शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : जगजीवन बालचंद दोशी (सावरकुंडला) 卐

मार्च : १९६३ ☆ वर्ष अठारहवाँ, फाल्गुन, वीर नि०सं० २४८९ ☆ अंक : ११

हित-अहित का अज्ञान

अज्ञान से क्या-क्या नहीं होता! हिरन मृगमरीचिका को जल समझकर पीने के लिए दौड़ता है और खेद खिन्न होता है; मनुष्य अंधेरे में रस्सी को सर्प मानकर भयभीत हो भागता है। उसीप्रकार यह आत्मा जब तक सत्य-असत्य का निर्णय नहीं करता, तब तक पर में तथा शुभाशुभ में (पुण्य-पाप में) इष्ट-अनिष्टपना मानता है; अनुकूलता की आशा व प्रतिकूलता का भय रखते हुये अज्ञानी जीव पवन से उद्वेलित समुद्र के समान अनेक विकल्प करता हुआ आकुलित होता है।

आत्मा का मूल स्वभाव शुद्ध विज्ञानघन ज्ञाता ही है, वह रागादि का उत्पादक नहीं, तथापि हित-अहित संबंधी अज्ञान के कारण रागादि का कर्ता होता है; इसप्रकार संयोग व राग की रुचिवाला वह जीव ज्ञाता मात्र स्वभाव की अरुचि के कारण दुःखी ही होता है।

(—पूज्य गुरुदेव, समयसार कलश ५८ के प्रवचन में से)

वार्षिक मूल्य तीन रुपया

[२१४]

एक अंक चार आना

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

नया प्रकाशन

समयसार प्रवचन भाग ४

कर्ता-कर्म अधिकार पर पूज्य श्री कानजी स्वामी द्वारा विस्तार से प्रवचन (गाथा ६९ से १४४) अंधकार हटाना नहीं पड़ता, प्रकाश होते ही अंधेरा उत्पन्न नहीं होता; इसप्रकार निर्मल तत्त्वज्ञान का अभ्यास करके भेदविज्ञान ज्योति अपनी आत्मा में प्रगट करने से अनादिकालीन महान भूल मिट जाती है। श्री समयसारजी शास्त्र में अत्यन्त अप्रतिबुद्ध अपूर्व तत्त्वज्ञान समझाया है।

कर्ता-कर्म के संबंध में जीव की भूल होने से मिथ्या अभिप्राय वश अज्ञानी जीव दु:खी हो रहा है, वह भूल कैसे मिटे, स्वानुभव कैसे हो, यह बात स्पष्ट करके समझाई है।

पृष्ठ संख्या ५६४, कपड़े की जिल्द, मूल्य (लागत से भी बहुत कम है) ४-०, पोस्टेज १-६० अलग।

अनुभवप्रकाश

लेखक, अनुभवी विद्वान श्री दीपचंदजी कासलीवाल जो २०० वर्ष पूर्व हो गये। इस ग्रंथ में आत्मानुभव को सुगम-रीति से समझाया गया है। पृष्ठ १२६, मूल्य ०-३५ पोस्टेज अलग।

शासन प्रभाव

जिसमें पूज्य कानजी स्वामी का जीवन चरित्र भी है। मूल्य ०.१२।

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : जगजीवन बालचंद दोशी (सावरकुंडला) 卐

मार्च : १९६३ ☆ वर्ष अठारहवाँ, फाल्गुन, वीर नि०सं० २४८९ ☆ अंक : ११

परमार्थ के अनुभव का उपदेश

[अङ्क २१२ से आगे]

आचार्यदेव को विकल्प उत्पन्न हुआ; इसलिये लिखते हैं कि—अपने मनन के हेतु—अपनी भावना के हेतु—'नियमसार शास्त्र' की रचना करता हूँ। विकल्प उत्पन्न हुआ है, परन्तु वह उसके घर रहा! मैं अपने में हूँ, राग, राग में है और जड़ की क्रिया जड़ में हैं;—ऐसी अंतरंग दृष्टि एवं अनुभव के काल में पर से निर्लिप्त रहकर जितनी श्रद्धा, ज्ञान, रमणता हो उतना ही शुद्ध केवलज्ञान प्रगट होने का मार्ग है... अन्य कोई मार्ग नहीं है।

स्वयं शुद्ध द्रव्य के अनुभवन स्वरूप होने से उन्हीं को परमार्थपना है। जो व्यवहार का ही परमार्थबुद्धि से अनुभव करते हैं—उसे परमार्थ मानते हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं। पानी के पूर की भाँति ग्यारह अंग तथा नव पूर्व पढ़ लें (—वर्तमान में तो इतनी पढ़ाई है ही नहीं); तथापि वह पढ़ाई पर के लक्ष से हुई है, स्वभाव के लक्ष से होनेवाली दशा के बिना वह सारी पढ़ाई भी मिथ्याज्ञान है। जो व्यवहार का परमार्थ बुद्धि से अनुभवन करते हैं—व्यवहार को परमार्थ मानते हैं, वे समयसार का अनुभवन नहीं करते। समयसार अर्थात् शुद्ध आत्मा क्या वस्तु है, उसे वे नहीं जानते—अनुभव नहीं करते। अनंत बार नववें ग्रैवयक में गया, तब कैसा होगा?—दूसरों को तो ऐसा लगेगा कि मानों तरणतारण का तूमा!—किन्तु ज्ञान में तन्मयता वह अंतर की कुछ और वस्तु है। उसके भी ध्यान में आता है कि हम जानते तो हैं न!—वह ज्ञान है; वहाँ तक तो अनंत बार गया है; ज्ञाता का स्वभाव और ज्ञान एकमेक है। मैं त्रिकाल ज्ञायकस्वरूप में एकाकार हूँ,—ऐसी अंतर अनुभव की

निर्विकल्प प्रतीति होना, सो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।

व्यवहार से परमार्थ होता है—ऐसा जो मानते हैं, वे आत्मा को नहीं जानते। जो व्यवहार का परमार्थ-बुद्धि से अनुभवन करते हैं, वे समयसार का अनुभवन नहीं करते। जो परमार्थ का परमार्थ-बुद्धि से अनुभव करते हैं, वे ही भगवान आत्मा का अनुभव करते हैं। पूर्व कर्मों के संग से राग-द्वेषादि हों, तथापि जिसकी अंतर्दृष्टि में राग-द्वेष की व्यापकता नहीं है और परमार्थस्वभाव की दृष्टि से अकेले आत्मा का अनुभवन करते हैं, वे ही समयसार का वेदन-अनुभवन करते हैं; वे आनन्द में डूबे हुए हैं और उन्हीं को मोक्ष होनेवाला है। जो परमार्थ को परमार्थबुद्धि से अनुभवता है, वह ही समयसार को अनुभवता है, अन्य कोई अनुभव नहीं कर सकता।

व्यवहार का विषय तो भेदरूप अशुद्ध द्रव्य है; उसमें तो भेद का विकल्प उठता है, वृत्ति उठती है, वह परमार्थ नहीं है; धर्मी को उसका आश्रय नहीं है; उसके आश्रय से परमार्थ नहीं होता।

निश्चयनय का विषय अभेदरूप शुद्धद्रव्य है, वही एकरूप भगवान सामान्यस्वभाव अंतर्मुख दृष्टि का विषय है; वही परमार्थ है और उसका अनुभव ही परमार्थ है; अन्य कोई परमार्थ नहीं है। निष्तुप अनुभव ही परमार्थ है। जो व्यवहार को निश्चय मानकर वर्तते हैं अर्थात् अंतर की गहराई में राग की मन्दता और ज्ञान के परोन्मुख भाव को लक्ष में लेकर ऐसा मानते हैं कि इसमें से आत्मा का एक कण भी निकलेगा, वे व्यवहार को परमार्थ मानते हैं, उन्हें परमार्थ का ज्ञान नहीं है।

अकेला शास्त्रों का ज्ञान तो ज्ञान ही नहीं है। जहाँ अंतर्मुख चैतन्य का एक कण भी जागृत हुआ, उसमें बारह अंग के ज्ञान का समावेश हो जाता है... वह बारह अंग का पाठी बन जाता है... अरे, वह श्रुतकेवली हो जाता है! भले ही वह नव तत्त्वों के नाम न जाने, तथापि वह श्रुतकेवली है!! भगवान आत्मा अंतर ज्ञायक का गुणगान करके अंतर से जागृत हुआ, वहाँ पिता ने पुत्र को देख लिया... अर्थात् उसके निर्मल पर्यायरूप पुत्र उत्पन्न हुआ... उसने वैराग्यरूपी बेटे को जन्म दिया... उसने खोजकुटुम्ब सब खाया अर्थात् सबके प्रति ममत्व था वह खोज-खोज कर नष्ट किया अर्थात् रागादि समस्त परभावों को पृथक् कर दिया। पुण्य-पाप, दया-दान, व्रत-भक्ति सब नाशवान हैं, मेरे स्वभाव में नहीं हैं।

अहो! जगत् को यह बात कठिन मालूम होती है।

निश्चय का कथन हो, वहाँ व्यवहार को भूल जाता है और व्यवहार का कथन हो, वहाँ उसी के अवलम्बन से कल्याण होगा—ऐसा मान बैठता है। क्या किया जाये?... उसकी अपनी

पात्रता—योग्यता के बिना बात नहीं बैठ सकती। भगवान ने तो अनंत जीव देखे हैं। 'ज्ञान वह आत्मा का स्वभाव है'—इसप्रकार अंतर्मुख होकर जीव ने अनुभव नहीं किया; ऐसा अनुभव करना, वह एक ही मोक्षमार्ग है।

निश्चय का विषय अभेद है; वही परमार्थ है। जो परमार्थ को परमार्थ मानकर अनुभव करते हैं, वे ही समयसार का अनुभव करते हैं और वे ही मोक्ष को प्राप्त करते हैं, अन्य कोई मोक्ष प्राप्त नहीं करते।

❀❀❀ ❀❀❀ ❀❀❀

अब इन अंतिम गाथाओं में तो समाधि-काल के प्रसंग भी बतलाते हैं।

अति कथन से बस होओ; एक परमार्थ ही अनुभव करो—इस अर्थ का काव्य कहते हैं—

अलमलमतिजल्पैर्दुर्विकल्पैरनल्पै-
रयमिय परमार्थ-श्चेत्यतां नित्यमेकः।
स्वरस विसरपूर्णज्ञानविस्फूर्तिमात्रा-
न्नखलु समयसारा दुत्तरं किंचिदस्ति॥

अधिक कथन से तथा अति दुर्विकल्पों बस होओ...! कथन का विकल्प उठता है, उसमें भी स्वभाव का स्पर्श करने की शक्ति नहीं है; इसलिये वह भी दुर्विकल्प है, उससे भी बस होओ... बस होओ... अलम्... अलम्। यहाँ इतना ही कहना है कि इस परमार्थ को अर्थात् एक अखण्ड ज्ञानमूर्ति भगवान अभेद चैतन्य पदार्थ का ही निरंतर अनुभव करो, यही एक मोक्ष का उपाय है, अन्य कोई मार्ग नहीं है। दूसरा कुछ सुनानेवाले मिलें तो उनकी बात जम जाती है और मानता है कि इसीप्रकार होगा; किन्तु भाई, ऐसा नहीं हो सकता! यह तो कोई मार्ग ही और है। अंतर की गहराई में उतरकर चैतन्य का पता लगाना चाहिये; अन्यथा उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती। राग-द्वेष, पुण्य-पाप के विकल्पों के लाखों-करोड़ों जाल भले हों, वह तो अनंत काल से करता ही आ रहा है; नववें ग्रैवेयक में गया तब कैसा होगा? दिगम्बर मुनि हुआ, हजारों रानियों का त्याग किया, ग्यारह अंग नवपूर्व का पाठी हुआ, किन्तु 'मोक्षमार्गप्रकाशक' में कहते हैं कि—अरे, यहाँ तक आया कि—पर का ज्ञाता हूँ, कर्ता नहीं हूँ; मैं शरीर नहीं हूँ; वाणी नहीं हूँ, मन नहीं हूँ, मैं तो इन सबका ज्ञाता हूँ;—ऐसी विकल्प बुद्धि में यदि अटक गया, तब भी मिथ्यादृष्टि है। भाई, मात्र पर का ज्ञाता वह ज्ञान है या स्वज्ञानमूर्ति चैतन्य वह ज्ञान है? भगवान ज्ञानमूर्ति निर्विकल्प चैतन्यज्योति विद्यमान है, उसकी अंतर्दृष्टि करके

सम्यग्ज्ञान करना, सो ज्ञान है; इसके अतिरिक्त लाखों शास्त्रों की पढ़ाई, वह ज्ञान नहीं है; उसे ज्ञान कहता कौन है ? तिर्यंच को नवतत्त्वों के नाम भी न आते हों, तथापि वह अध्यात्म दृष्टि से श्रुतकेवली है। अहो! जिस श्रुतज्ञान में भगवान आत्मा प्रगट हुआ है, तथा जिस ज्ञान के द्वारा केवलज्ञान की प्राप्ति होगी, ऐसा निश्चित हो गया कि—अब केवलज्ञान लेकर ही रहेंगे।—उस दशा में धीरे-धीरे पूर्णानन्द की प्राप्ति के अतिरिक्त अन्य कोई बात नहीं है—ऐसे सच्चिदानन्दस्वरूप का भान होना ही परमार्थ है। यहाँ इतना ही कहना है कि—इस एक परमार्थ का ही निरंतर अनुभव करो, वह एक ही मोक्षमार्ग है... अन्य जो दुर्विकल्प हैं, उनसे बस होओ... पुण्य-पापरूप विकल्पों से बस होओ... कथन के शुभ विकल्प को भी रुको।... कथन में विकल्प का उत्थान है, शुभराग है, पुण्य है, उससे भी बस होओ... बस होओ... अब चैतन्य अंतर्मग्न होता है।

यहाँ यही कहना है कि—इस एक परमार्थ का ही निरंतर अनुभव करो। किसी काल में भी राग कण से चैतन्य को लाभ होगा—ऐसी दृष्टि हो तो चैतन्य की तन्मयता लुट जायेगी। निरंतर इस एक परमार्थ का ही अनुभव करो; क्योंकि निजरस के विस्तार से पूर्ण ऐसा जो ज्ञान-जिसमें निजरस के पूर्णानन्द का विस्तार पड़ा है, ऐसा पूर्णज्ञान—उसके स्फूरायमान होने मात्र जो समयसार, उससे उच्च (उत्तम) वास्तव में अन्य कुछ भी नहीं है। चैतन्यस्वभाव आनन्दकन्द ज्ञानज्योति है, ज्ञान समुद्र से स्वभाव आनन्दकन्द ज्ञानज्योति है, ज्ञानसमुद्र से भरपूर है, उसमें ज्ञान-दर्शन-आनन्द के रत्न भरे पड़े हैं; पुण्य-पाप के विकल्परूप कंकड़ उसमें नहीं हैं। पुण्य-पाप के परिणाम भी कंकड़ हैं, उनके फल तो दूर रहे।

एक बार एक आदमी ने पूछा था कि—इन धनवानों का धर्म में कोई स्थान है या नहीं ?—अधिक धन मिला, उससे धर्म में भी कोई बड़ा पद या प्रमुखता मिलती है या नहीं ?

भाई, धन-पैसा तो जड़ है; जो रुपये-पैसे की अपना मानता है, उसे तो अधर्म में स्थान मिलता है। भले ही हजारों-लाखों रुपये धर्मादा में दे किन्तु उससे कहीं धर्म नहीं है। राग से और पर से भिन्न ऐसे चैतन्य पदार्थ के भान बिना तीन काल में धर्म नहीं होता।

तो क्या निर्धन और धनवान दोनों का पद समान है ? एक को महीने में पाँच लाख मिलते हों और दूसरे को पच्चीस रुपया वेतन भी न मिले, फिर भी दोनों समान हैं ?

हाँ भाई! क्या रुपया-पैसा आत्मा में पहुँच गया है ? क्या आत्मा निर्धन है ? रुपये-पैसे का आत्मा को क्या मूल्य ? भगवान आत्मा तो उससे पार है... उसका अनुभवन करो। क्योंकि निजरस

के विस्तार से पूर्ण जो ज्ञान, उससे स्फुरायमान होने मात्र जो समयसार, उससे ऊँचा वास्तव में जगत में कोई नहीं है। तीर्थंकरगोत्र का भाव भी ऊँचा नहीं है और उससे तो तीर्थंकर पद प्राप्त होता है, वह भी उच्च नहीं है।

भगवान आत्मा ज्ञानमूर्ति चैतन्य ज्योति आनन्द से प्रकाशमान है... ऐसे आत्मा की अंतर्दृष्टि एवं अंतररमणता के अतिरिक्त दूसरी कोई उच्च वस्तु तीन काल-तीन लोक में नहीं है। चक्रवर्ती का राज्य या इन्द्र का इन्द्रासन भी उसके समक्ष सड़े हुए तिनके के समान है। आजकल तो ऐसे पुण्य भी कहाँ हैं ? पुण्यवंत को किसी से जबरन राज्य का कर नहीं लेना पड़ता; उसे तो दुनिया सामने से देने आती है कि—यह लीजिये, आपके जन्म से पत्थरों में नीलमणियों की उत्पत्ति हुई है ! हम राज्य का दोहन करते हैं, राज्य हमारा दोहन नहीं करता।—ऐसा प्रजाजन कहते आते हैं। ऐसे पुण्य भी धूल के समान हैं भाई ! उनमें आत्मा नहीं है। आत्मा ने तीन काल में उनका स्पर्श नहीं किया और न वे तीन काल में आत्मा का स्पर्श करते हैं... शुभभाव भी चाहे वे थोड़े हों या बहुत हों, किन्तु वे आत्मा का स्पर्श नहीं करते। ऐसे आत्मानुभव के अतिरिक्त इस जगत में कोई तीन काल में ऊँचा नहीं है।

व्यवहार का ज्ञान कराना हो तो तब उसकी भी बात आती है।

एक तो चक्रवर्ती राजा हो और एक काले-कुबड़े मुनि हों; मुनि को बोलना भी न आता हो, कण्ठ भी अच्छा न हो; बबूल के घने जंगल में जाकर ध्यान में लीन हो और चक्रवर्ती को खबर मिले कि—अरे, एक मुनि हैं, आत्मज्ञानी हैं, जंगल में विराजमान हैं... तो वहाँ चक्रवर्ती राजा अपने दलबल के साथ मुनि की वंदना करने जाता है और भावना भाता है कि—अहो, वे तो परमेश्वर के समान हैं। सिद्ध भगवान—परमेश्वर तो ऊपर हैं और यह मुनि तो परमेश्वर के निकट जाने की तैयारी कर रहे हैं... परमेश्वर के समकक्ष है.. जय प्रभो !.. जय प्रभो !..धन्य अवतार !—ऐसा भाव चक्रवर्ती को आता है।

अहो... धन्य है ! सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लिया, वहाँ कहते हैं कि—धन्य है ! तू शूरवीर है, तू वीर है, तू मनूष्य है, तू महान पण्डित है, तू बारह अंग का पाठी है, तुझमें सब कुछ आ गया—ऐसा अंतर से प्रमोद आता है।

विकल्प तो आता है—नहीं आता, ऐसा नहीं है; किन्तु वह विकल्प अंतर में ले जाये, ऐसी शक्ति उसमें नहीं है। विकल्प की भूमिका से हटकर भगवान को निहारे तो भगवान आत्मा स्वयं महिमावान प्रभु है, विकल्प की तो कोई महिमा ही नहीं है। परम-आत्मा अर्थात्

परमस्वरूप—नित्यस्थायी स्वरूप, चिदानन्द, आदि-अंत रहित ध्रुवस्वरूप, उसे ग्रहण किया, उसका अनुभव हुआ तो उससे ऊँची अन्य कोई वस्तु नहीं है। भले ही दूसरी सब प्रकार की चतुराई हो, पाँच-दस हजार मनुष्यों की सभा में भाषण दे, दो घण्टे तक खड़ा-खड़ा बोलता रहे... लेकिन उससे क्या? यह सब तो जड़ का संसार है; जड़ का जड़रूप से विकास हुआ, उसमें आत्मा नहीं है। हमें बहुत आता है—बोलना-समझाना हम जानते हैं, सभा का मनोरंजन कर सकते हैं किन्तु भाई! यह सब तो जड़ का विस्तार है। भाई, जड़ का विस्तार हो, संसार का विस्तार हो, उसमें तू कहाँ है? यहाँ तो मुख्य बात कही जाती है भाई! चापलूसी करनेवाले और मक्खन लगानेवाले तो इधर-उधर बहुत दिखायी देते हैं।

एक श्रोता ने पूछा :—भगवान होना हो तो यह सब सुनना चाहिये?

भाई, यही समझना पड़ेगा... यही भगवान होने का मार्ग है। रंकपना तो अनादि से कर रहा है। अनंत काल से चौरासी के अवतारों में भटक रहा है; उसमें से छूटने की यह बात है। अहो!....

'न खलु समयसारादुत्तरं किंचिदस्ति'

कोई भी जगत् में ऊँचे से ऊँचा कहा जाता हो, किन्तु भगवान आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान और रमणता से उच्च कोई नहीं है। ...तीन काल-तीन लोक में कोई उच्च नहीं है। तीर्थंकर ऐसा कहते हैं, केवली भी ऐसा कहते हैं, चारित्रवान मुनि भी ऐसा अनुभव कर रहे हैं और सम्यक्त्वी के भान में भी ऐसा वेदन होता है। यही परमार्थ वस्तु है, अन्य कोई वस्तु परमार्थ नहीं है।

एक भाई कहते थे कि क्रमबद्ध की बात सुनकर लोग स्वच्छन्दी हो जाते हैं और मानते हैं कि—जो होना है, सो होगा। इसप्रकार जो व्यवहार की कोमलता थी, वह भी चली जाती है। सब क्रमबद्ध-क्रमबद्ध करते हैं, लेकिन परिणामों की कोमलता और कषाय की मंदता की बात भूल जाते हैं।

क्या किया जाये भाई! लोग भूलें या न भूलें... सत्य तो यही है। 'होना है, सो होगा'—ऐसी मान्यता में धृष्टता आ जाती है... क्रमबद्ध के नाम पर स्वच्छन्द का पोषण होता है! लेकिन करें क्या? जो सच्ची बात थी, वह प्रगट की है... कोई न समझे तो क्या कर सकते हैं? स्वच्छन्द का सेवन करना या न करना तो उसके अधिकार की बात है। क्रमबद्धपर्याय को समझनेवाले की तो शैली ही और होती है भाई! देव-गुरु-शास्त्र के प्रति कितनी विनय उसे होती है! कितना बहुमान होता है! अंतर में इतनी उमंग और मिठास आती है कि देव-गुरु-शास्त्र के हेतु मान और मस्तक रख दे! प्राण जाने पर भी वह देव-गुरु-शास्त्र की विनय नहीं छोड़ता।—इतनी विनय तो उसकी

व्यवहार में होती है। क्रमबद्ध के नाम पर यह सब बातें लोग भूल जाते हैं। क्या करें भाई! वस्तु तो जैसी थी, वैसी बाहर आयी है।

'क्या हमारा भाव विकार करने का है?—वह तो क्रमबद्ध है; विकार का क्रम आना था, सो आया... कर्म का निमित्त आया और हमारा स्वकाल था, इसलिये पापभाव हुआ।'—ऐसा कहकर स्वच्छन्द वर्तन करते हैं; किन्तु भाई! तू क्या कहता है? इसमें तो तेरी जो आंतरिक कोमलता थी, कषाय मंद करने चाहते थे, वह भावना भी चली गई! तूने कुछ नहीं समझा! अरे भगवान! यों तो तू भटक-भटक कर मर जायेगा... इस प्रकार स्वच्छन्दता में तेरे परिभ्रमण का अंत नहीं आ सकता।

क्या किया जाये? प्रत्येक जीव स्वतंत्र है... अनादिकालीन है... तीर्थंकर भगवान के समवसरण में भी अनंत बार हो आया... कुछ भी बाकी नही रखा। भाई! तेरी लीला ही अनोखी है! क्रमबद्ध समझने से तो अंतर में घुलकर एकाकार हो जाता है कि—अहा! मैं किसका कर सकता हूँ? क्या कर सकता हूँ? कौन कर सकता है? मैं तो ज्ञान हूँ, आनन्द हूँ। भाई, ज्ञाता स्वभाव में आने से विकार मंद हो जाते हैं... अनंतानुबंधी कषाय गल जाता है... अंतर में अनंत प्रकार की पर में कर्ताबुद्धि थी वह दूर हो गई, स्वसन्मुख ज्ञाता रहा, इसका नाम क्रमबद्धपर्याय का निर्णय और अकर्तृत्व के ज्ञान की तन्यमता है। इसके बिना कोई क्रमबद्ध का नाम लेता रहे और पापभाव में वर्तता रहे तो वह महान स्वच्छन्दी है।

एक श्रोता कहते थे कि—आप तो निश्चय की बात करते हैं, किन्तु व्यवहार का लोप हो जायेगा... अरे, व्यवहार लुट जायेगा? क्या किया जाये भाई! सत्य तो ऐसा ही है। ऐसा सत्य जिसकी समझ में आ जाये, उसकी दशा में से कोमलता, करुणा, नम्रता, विनयशीलता, भक्ति आदि भाव नहीं हटते। क्या करें? एक बात कहने जाता है तो दूसरी छोड़ देता है और दूसरी कहने जाता है तो पहली खो देता है। निश्चय का कथन करते समय व्यवहार की मर्यादा को भूल जाता है और व्यवहार के कथन में व्यवहार से लाभ मान बैठता है। अरे, तीर्थंकरों के काल में उनसे भी नहीं समझा, ऐसा बहादुर है! फिर आज की तो बात ही क्या? जिसमें अमुक पात्रता और विशेष कोमलता हो, उसे यह बात सुनकर अंतर की रुचि होती है और परिणमन तो अनंत पुरुषार्थ से होता है... अनंतानुबंधी का नाश होता भी अनंत पुरुषार्थ से होता है। जहाँ अनंत संसार कट हो गया, अनंत स्वभाव की सामग्री का भंडार दृष्टिगोचर हुआ—उसे समझा—वहाँ संसार छूट गया।

क्रमबद्ध में या निश्चय में जो वस्तुस्थिति हो, उसी का कथन किया जाता है; उसे जो नहीं

समझता, वह उल्टा-सीधा करके स्वच्छन्दी होता है;—तो क्या वह उपदेश के कारण होता है ?—नहीं; और जो समझता है, वह क्या उपदेश के कारण समझता है ?—नहीं। टोडरमलजी ने कहा है कि निश्चय का उपदेश सुनकर व्यवहार में स्वच्छन्दी होओगे तो उसमें उपदेश का दोष नहीं है, वक्ता का दोष नहीं है। निश्चय की बात सुनकर व्यवहार का राग कहाँ-कैसा होता है, वह भूल जाय, स्वच्छन्द वर्तन करे और कहे कि वह तो उस काल में वैसा ही राग आना था! किन्तु भाई! उसका निर्णय करनेवाले की दशा तो कैसी होती है ? भाई, तू यह क्या लेकर बैठा है! अरे प्रभु! ऐसा नहीं कहते; तू जरा ध्यान लगाकर सुन तो सही!

क्या किया जाय! क्या कोई किसी के कहने से समझता है ? जीव की अशुद्धता भी बड़ी है और शुद्धता भी बड़ी है! अशुद्धता की विपरीतता इतनी है कि अनंत तीर्थंकर मिलकर समझायें, तब भी नहीं समझेगा... और शुद्धता की सामर्थ्य प्रगट हो तो अनंत विरोधियों के होने पर भी आत्मा का भान नहीं भूलता! सातवें नरक में कितने विरोधी हैं ? वहाँ मारपीट करते हैं, शरीर के टुकड़ें कर डालते हैं, फिर भी आत्मा का स्मरण रहता है और समवशरण की अनंत अनुकूल सामग्रियाँ होने पर भी अपनी विपरीतता-अशुद्धता को नहीं भूलता। जीव का सीधापन या उल्टापन उसके अपने ही कारण से होता है, दूसरे के कारण नहीं।

आचार्यदेव तो कहते हैं कि—अन्य विकल्पों से अब बस होओ! हम कहते हैं कि—पूर्ण ज्ञानधन आत्मा का अनुभव करना ही यथार्थ वस्तुस्थिति है। वही मूल मार्ग है। जिसे परमेश्वर होना हो, अपने अंतर में परमात्मा के दर्शन करना हों, उसकी यह बात है। आत्मा को परमेश्वर के रूप में देखे तो आत्मा में परमेश्वरता प्रगट होती है। इसलिये पूर्ण ज्ञानस्वरूप आत्मा का अनुभव करना, उसमें श्रद्धा-ज्ञान-रमणता करना ही मोक्षमार्ग है; इसके अतिरिक्त वास्तव में अन्य कुछ भी सारभूत नहीं हैं।

हमारा उपदेश सुनकर इतने लोग समझे।—ऐसा मानता है किन्तु भाई! दूसरों को समझने या न समझना तो उनकी पर्याय में है, उसमें तूने क्या किया ? दूसरों के समझने या न समझने में धर्म का प्रमाण या धर्म का मूल्यांकन करेगा तो तू भ्रम में पड़ेगा। कभी किसी जीव ने धर्म प्राप्त कर लिया, और कभी कोई नहीं समझा तो क्या उसमें समझानेवाले का मोक्ष अटक जायेगा ? बाहरी घेरे पर से ऐसा अनुमान लगता है कि इस व्यक्ति को धर्म की प्राप्ति हुई है, इसलिये बहुतों को धर्म प्राप्त करा दिया; और इस व्यक्ति ने किसी को धर्म प्राप्त नहीं कराया, इसलिये उसके धर्म की

प्राप्ति नहीं हुई, तो भाई! ऐसा धर्म का प्रमाण या धर्मी की पहिचान नहीं है। वस्तु का स्वरूप इससे विपरीत है। तू अकेला अपने में देख... तेरी पुकार सुनकर दूसरा कोई तेरे साथ न आये तो तू अकेला चला चल...

'एकला चलो रे... एकला चलो रे... एकला चलो...'

तू अकेला अपने में समा जा... भाई! भगवान आत्मा, देह से पृथक् चिदानन्दमूर्ति है; उसे समझने में, उसका ज्ञान करने में कोई तेरे साथ न आये, तेरी पुकार कोई न सुने तो तू अकेला ही अपने में स्थिर हो जा! यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि—अपने विकल्प हम छोड़े देते हैं। शास्त्र में बहुत-बहुत कहकर हम अंत तक आ गये हैं... अब बस होओ... पूर्ण ज्ञानस्वरूप आत्मा का अनुभव करना ही परमार्थ है... इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी परमार्थ नहीं है।

अब अंतिम गाथा में इस समयसार के अभ्यासादि का फल कहकर आचार्यदेव इस ग्रंथ की पूर्ण आहुति करेंगे। उसकी सूचनारूप श्लोक कहते हैं—

इदमेकं जगत्चक्षुरक्षयं याति पूर्णताम्।
विज्ञानघरमानन्दमयमध्यक्षतां नयत्॥

अहो! आत्मा का अंतर स्वभाव तो आनन्द एवं विज्ञानघन है। ढूँढ़ने से हाथ नहीं आता; इसलिये मानों बाह्य में कहीं से आनन्द प्राप्त होगा,—ऐसा मानकर रूपये-पैसे में, मान-प्रतिष्ठा में, बड़ी पदवी में आनन्द की खोज करता है। हवाई जहाज से उतरे और लाखों लोग हर्षध्वनि से जय-जयकार करें तो आनन्दविभोर हो जाता है; किन्तु भाई! वह सच्चा आनन्द नहीं है। तू स्वयं आनन्दमय विज्ञानघन है... फिर अन्यत्र कहाँ आनन्द ढूँढ़ता है! बाह्य में कहीं तेरा आनन्द है ही नहीं। आनन्दमय विज्ञानघन ऐसे समयसार अर्थात् शुद्ध आत्मा को प्रत्यक्ष करता हुआ यह शास्त्र समाप्त होता है।

कैसा है आत्मा? आनन्दमय... आनन्दमय! अतीन्द्रिय आनन्द जो परमात्मदशा में पूर्ण प्रगट होता है, उस पूर्ण आनन्द की दशा सादि-अनंत ज्यों की त्यों प्रवाहित रहती है। उस आनन्द का धाम भगवान आत्मा है। भगवान आत्मा अंतरंग आनन्द का धाम है, अतीन्द्रिय आनन्द का स्थान है। आत्मा आनन्दमय विज्ञानघन है। शरीर में स्थित तत्त्व शरीर-वाणी से पार, पुण्य-पाप के विकल्प से भी पार तथा अल्पज्ञ वर्तमान दशा से भी पार पूर्ण ज्ञानघन एवं आनन्दमय है।

वर्तमान परोक्ष ज्ञान द्वारा ऐसे आत्मा को किसप्रकार प्रतीति में लिया जा सकता है?

भाई, परोक्ष तो ज्ञान की अपेक्षा से; किन्तु उसके वेदन में भावभासन में एवं प्रतीति में तो आ सकता है न ?—यह जो ज्ञान का और शांति का अंश है, वैसा ही उसका सम्पूर्ण स्वरूप है; वह मात्र अकषाय स्वभावमय है।

❀ सम्यग्ज्ञानमय अर्थात् वीतराग स्वभावमय आत्मा है।

❀ वीतराग स्वभावमय अर्थात् आनन्दमय।

❀ आनन्दमय अर्थात् विज्ञानघन।

—ऐसे शुद्ध परमात्मा को प्रत्यक्ष करता हुआ यह समयसार (समयप्राभृत) पूर्ण होता है। शुद्ध आत्मा को वाणी से पूर्ण प्रगट करता हुआ तथा अंतरंगदशा से पूर्ण समझाता हुआ यह एक अद्वितीय अक्षय जगत्चक्षु (-जगत् के अक्षय नेत्र) पूर्णता को प्राप्त होता है; समयसार पूर्णता को प्राप्त होता है।

अहो! आनन्दमय विज्ञानघन आत्मा को प्रत्यक्ष करता हुआ, वेदन में प्रत्यक्ष बतलाता हुआ, तथा 'समयसार शब्दों से वाच्य बतलाता हुआ, अंतर में प्रत्यक्ष आत्मा को बतलाता हुआ, ज्ञानदशा द्वारा इस भाव से पूर्ण आत्मा शुद्ध परमानन्द है—इसप्रकार राग की अपेक्षा बिना ज्ञान की प्रत्यक्षता से ज्ञान का वेदन बतलाता है—ऐसा यह अक्षय जगत्चक्षु समयप्राभृत पूर्णता को प्राप्त होता है।

यह समयप्राभृत पठन करके जान अर्थ रु तत्त्व से।
ठहरे अरथ में जीव जो वो, सौख्य उत्तम परिणमे॥४१५॥

उपासक संस्कार

[श्रावक के कर्तव्य का वर्णन]

(अंक २११ से आगे)

उपासक अर्थात् उपासना करनेवाला। धर्म की उपासना करनेवाला श्रावक कैसा होता है, उसका प्रतिदिन का क्या कार्य है ?—वह वर्णन इसमें किया गया है। सातवीं गाथा में देवपूजा आदि छह कर्तव्यों का वर्णन है; उसमें से देवपूजा संबंधी विस्तार पूर्व लेख में हो चुका है; इस लेख में गुरु-उपासना संबंधी विस्तार चल रहा है।

देवपूजा के पश्चात् श्रावक का दूसरा कर्तव्य है गुरु उपासना। गुरु उपासना अर्थात् निर्ग्रंथ मुनिवरों की तथा धर्मात्मा-संतों की सेवा, उनका सत्संग, उनका बहुमान, उनकी भक्ति, उनकी प्रशंसा, उनका उपदेश श्रवण;—इस सबका समावेश गुरु उपासना में होता है और वह गृहस्थ श्रावकों का प्रतिदिन का कर्तव्य है। जो धर्म में बड़े हैं, ऐसे धर्मात्माओं की सेवा, वह गुरु उपासना है।

भगवान की पूजा तथा गुरु की उपासना में तो राग है न ?—ऐसा कहकर कोई उसकी उपेक्षा करे तो उसे धर्म का प्रेम जागृत नहीं हुआ है। यद्यपि उसमें है तो शुभराग, और परमार्थदृष्टि में वह उपेक्षायोग्य है, परन्तु जिसे धर्म का प्रेम जागृत हुआ हो, उसे धर्म के दातार ऐसे वीतरागी देव-गुरु के प्रति तथा धर्म के साधक जीवों के प्रति परम स्नेह एवं भक्ति उल्लसित हुए बिना नहीं रहती। श्रावक की अभी राग की भूमिका है, इसलिये उसका राग वीतरागी देव-गुरु-शास्त्र की ओर ढल गया है। अभी जिसके राग की दिशा भी संसार से हटकर राग की ओर उन्मुख नहीं हुई, उस जीव को धर्म का प्रेम कैसे कहा जा सकता है ? जिसे धर्म का प्रेम जागृत हुआ, वह तो धर्म के साधक मुनिवरों को अथवा धर्मात्मा जीवों को देखते ही प्रमोद से उल्लसित हो उठता है कि—**'अहा! यह धर्मात्मा मोक्षमार्ग की कैसी साधना कर रहे हैं!!'** उसे तन, मन और धन से—सर्व प्रकार से उनकी सेवा का भाव आता है। भोजन के समय धर्मात्मा को प्रतिदिन ऐसी भावना होती है कि—अरे, कोई मोक्ष की साधना करनेवाले मुनिराज या धर्मात्मा मेरे आँगन में पधारें तो उन्हें आहार देकर फिर मैं भोजन करूँ। अरे, इस पेट में आहार भरने की अपेक्षा किन्हीं मुनिराज-धर्मात्मा को आहार दान दूँ तो मेरा अवतार सफल हो जाये ! जब मैं स्वयं मुनिदशा धारण करके करपात्री बनूँगा, उस अपूर्व अवसर की

तो बात ही क्या ? परन्तु मुनि होने से पूर्व अन्य मुनिवरों को भक्तिपूर्वक आहारदान दूँ तो मेरे इन हाथों की सफलता है !—इसप्रकार श्रावक प्रतिदिन भावना भाता है और उसे धर्मात्मा श्रावकों के प्रति बहुमान एवं वात्सल्यभाव उल्लसित होता है।

जो अपने में सम्यग्दर्शानादि गुण प्रगट करना चाहता है, उसे उन गुणों का बहुमान आये बिना नहीं रहता; इसलिये जिन्हें ऐसे गुण प्रगट हुए हैं, ऐसे देव-गुरु के प्रति उसे बहुमान-भक्ति सहज ही होती है; इसलिये देवपूजा, गुरुपास्ति आदि छह कर्तव्य श्रावक को प्रतिदिन होते हैं।

प्रश्नः—एक ओर यह कहना है कि भूतार्थस्वभाव के आश्रय से ही धर्म होता है, और दूसरी ओर देव-पूजा, गुरु उपासना आदि शुभ कर्तव्य का उपदेश देना—इन दोनों का मेल कैसे बैठता है ?

उत्तरः—जिसमें भूतार्थस्वभाव का आश्रय करने की पात्रता जाग्रत हुई, उसे व्यवहार में ऐसे भाव होते ही हैं; इसलिये भूतार्थस्वभाव के आश्रय में तथा इन छह कर्तव्यों में विरुद्धता नहीं है किन्तु मेल हैं।—इसका यह अर्थ नहीं है कि—जो शुभराग है, उसके द्वारा धर्म होता है। धर्म तो भूतार्थस्वभाव के आश्रय से ही होता है—ऐसा नियम है। भूतार्थस्वभाव के आश्रय से जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट हुए, वही धर्म है—ऐसा धर्म का स्वरूप स्थापित करके फिर गृहस्थ-धर्मात्मा की स्थिति कैसी होती है, वह यह बतलाया है। भूतार्थस्वभाव का आश्रय करनेवाले जीव को देवपूजा, गुरुसेवा आदि शुभराग जरा भी न हो—ऐसा तो नहीं है; हाँ, इतना अवश्य है कि उस शुभराग को वह धर्म नहीं मानता। तथापि उस भूमिका में अन्य अशुभराग से बचने के लिये उसे देवपूजा, गुरुसेवा आदि के भाव अवश्य आते हैं, इसलिये उन्हें श्रावक का कर्तव्य कहा है। श्रावक की भूमिका में कोई उस प्रकार का शुभराग होने का निषेध करे तो उसने धर्म का स्वरूप नहीं समझा है; तथा कोई उस शुभराग को धर्म मान ले तो वह भी धर्म का स्वरूप नहीं समझा।—तात्पर्य यह है कि—श्रावक की भूमिका में ऐसा शुभराग होता है।

(३) स्वाध्याय—श्रावक का तीसरा कर्तव्य शास्त्र स्वाध्याय है। श्रावक प्रतिदिन शांतिपूर्वक-निवृत्ति-परिणामों से शास्त्र स्वाध्याय करता है। जिसके प्रत्येक शब्द में से वीतरागता झरती हो, ऐसे शास्त्र के अभ्यास का धर्मात्मा को प्रेम होता है और वह प्रतिदिन शास्त्रस्वाध्याय श्रवण-मनन करता है।

कोई कहे कि—दूसरे कामों में हमें शास्त्र पढ़ने का समय ही नहीं मिलता ! तो कहते हैं कि अरे भाई ! व्यापारी-धंधे में या खान-पान के पापभाव में तो तू चौबीसों घण्टे डूबा रहता है, वहाँ तुझे समय मिलता है और शास्त्र पढ़ने का समय नहीं मिलता, तो तुझे आत्मा की दरकार ही नहीं है।

भोजनादि अन्य कार्यों के लिये तो तुझे समय मिलता है; प्रतिदिन अखबार पढ़ने, रेडियो सुनने और कथा-कहानियाँ पढ़ने का समय मिलता है और यहाँ कहता है कि सत् शास्त्रों की स्वाध्याय का समय नहीं मिलता, तो तेरी रुचि की दिशा में ही फेर है। जिस कार्य की अत्यन्त आवश्यकता समझे, उसके लिये समय न मिले, ऐसा नहीं हो सकता। जिसे जिस कार्य की सच्ची लगन हो, उस कार्य के लिये अवश्य ही समय मिलता है। अन्यत्र परिणामों को लगाने के बदले जो अपने को प्रिय लगता है, उसी में जीव अपने परिणामों को लगाता है। **जीव अपने परिणामों को कहीं न कहीं तो लगाता ही है। जिससे आत्मा की रुचि है, वह अपने परिणाम को आत्मा के अध्ययन में लगाता है।**

देखो, सांसारिक पढ़ाई में पाँच सौ या हजार रुपया वेतन लेने के लिये कितने वर्ष व्यतीत करता है! रात को भी जाग-जागकर पढ़ता है; तो अनंत भव की भूख मिटानेवाली इस चैतन्य-विद्या की पढ़ाई में कितना समय लगाना चाहिए?—इस विद्या की प्राप्ति के लिए उद्यम करना चाहिए या नहीं? लौकिक कार्यों में कई घण्टे लगाता है; वहाँ समय न मिलने का बहाना नहीं ढूँढ़ता और धर्मकार्य का समय न मिलने का बहाना ढूँढ़ता है तो ऐसे जीव को धर्म की रुचि ही नहीं है। परदेश से अपने किसी सगे-संबंधी या पति आदि का पत्र आये तो लोग कितनी उत्कंठा से पढ़ते हैं? तो फिर वीतरागी शास्त्रों में त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर का तथा संतों का संदेश आया है कि हमने इसप्रकार आत्मा की साधना की है और तुम भी इसीप्रकार आत्मा की साधना करो; भगवान का ऐसा संदेश आत्मार्थी जीव कितनी उत्कंठा और प्रीतिपूर्वक पढ़ेगा? शास्त्र में भगवान ने क्या कहा है और संतों ने कैसा अनुभव किया है, वह समझने के लिए श्रावक प्रतिदिन प्रीतिपूर्वक शास्त्र स्वाध्याय करता है। उसे ज्ञान का ऐसा रस होता है कि शास्त्र स्वाध्याय में भार मालूम नहीं पड़ता किन्तु रुचि-प्रीति होती है। इसप्रकार शास्त्र स्वाध्याय, वह श्रावक का दैनिक कर्तव्य है।

जिसप्रकार व्यापार में रुचिवान जीव सदैव अपने बही-खातों की जाँच करके नफा-नुकसान का हिसाब निकालता है; उसीप्रकार धर्म की रुचिवाला सदा धर्मग्रंथों की स्वाध्याय करके भगवान के बही-खातों की जाँच करता है, हिसाब निकालता है कि—कौन से तत्त्व है, कौन से उपादेय तथा कौन से ज्ञेय हैं? और परिणामों में लाभ-हानि किसप्रकार है, वह जानकर जिसमें लाभ हो उसीप्रकार वर्तन करता है। शंका हो तो विशेष ज्ञाता से पूछकर निर्णय करता है। 'पढ़े किन्तु गुने नहीं'—अर्थात् पढ़ ले किन्तु विचार न करे तो शास्त्र का सच्चा लाभ नहीं हो सकता। आत्मा के लक्षपूर्वक शांत परिणामों से प्रतिदिन घण्टे-दो घण्टे या इससे भी अधिक समय तक निवृत्ति लेकर स्वाध्याय करना, वह प्रत्येक श्रावक का दैनिक कर्तव्य है।

प्रश्नः—तो फिर व्यापार-धंधा और घर के कार्य कब होंगे ?

उत्तरः—बाह्य कार्य तो पुण्यानुसार उनके कारण होते रहते हैं; उनमें तेरा जितना उपयोग लगायेगा, उतना अशुभभाव है। क्या चौबीसों घण्टे अशुभ में ही पड़ा रहना है ? धर्म की रुचिवाले जीव को चौबीसों घण्टे व्यापार-धन्धे की ऐसी तीव्र लोलुपता नहीं होती कि शास्त्र-स्वाध्याय का अवकाश ही न मिले; यह तो शास्त्र पढ़ने के लिए अमुक निवृत्ति लेता है। अहो, इन पापभावों में तो जितना अल्प समय व्यतीत हो, उतना अच्छा है और शास्त्रस्वाध्याय-चिंतन-मनन आदि में जितना अधिक समय बीते, उतना भला है—ऐसी उनकी भावना होती है। शास्त्रस्वाध्याय द्वारा नये-नये पक्षों में तत्त्वनिर्णय करने में ज्ञानादि की निर्मलता होती जाती है और वैराग्य में वृद्धि होती है; इसलिये शास्त्रस्वाध्याय वह सदा का कर्तव्य है। गणधर भगवान ने स्वाध्याय को भी परम तप कहा है। शास्त्र लेकर अलमारी में रख छोड़े तो स्वाध्याय का सच्चा लाभ नहीं होता; शास्त्र पढ़ने से नये-नये पक्षों का ज्ञान होता है कि—हम क्या जानते थे, क्या नहीं जानते थे, हमारी समझ में कहाँ फेर था। यह सब निर्णय स्वाध्याय से ही होता है। धर्म के रुचिवान श्रावक को ज्ञान का रस होता है, इसलिये उसे वीतरागी शास्त्रों की स्वाध्याय का भी प्रेम आता है, उसमें उसे भार नहीं लगता, किन्तु उत्साह आता है। शास्त्र की अध्यात्म चर्चा में नये-नये सूक्ष्म न्यायों का स्पष्टीकरण होने से तत्त्व के जिज्ञासु को जो आनन्द आता है, वैसा आनन्द बड़े-बड़े राजाओं को राज-पाट में भी नहीं मिलता। सर्वार्थसिद्धि आदि देवलोकों के देव सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा हैं, उन्होंने आत्मा का अनुभव किया है; वे देव भी असंख्यात वर्षों तक देवलोक में धर्म की चर्चा करते हैं। साधर्मियों में बैठकर जिज्ञासुभाव से धर्म की चर्चा करना भी स्वाध्याय है; गुरु के निकट विनयपूर्वक श्रवण करना या पूछना भी स्वाध्याय है और उस श्रवण किये हुए तत्त्व का मन में चिंतवन करना भी स्वाध्याय है।

—इसप्रकार श्रावक को प्रतिदिन करने योग्य छह कर्तव्यों में से देवपूजा, गुरु उपासना तथा शास्त्र स्वाध्याय—इन तीन का वर्णन किया; तदुपरान्त अपनी भूमिकानुसार संयम, तप और दान भी श्रावक को प्रतिदिन करना चाहिये।

(४) संयमः—जो चैतन्य का उपासक है, आत्मा की सेवा-आराधना करनेवाला है—ऐसा श्रावक कषायों को तथा इन्द्रियविषयों को कम करके प्रतिदिन संयम का अभ्यास करता है; उसकी विषय-कषायों में स्वच्छन्द प्रवृत्ति नहीं होती। जिसने चैतन्य का रस चखा है अथवा जिसे चैतन्यरस का प्रेम है, उसे आकुलताजनक बाह्य- विषयों के प्रति सहज वैराग्य होता है। इसलिये कहा है कि—

ज्ञानकला जिसके घट जागी, ते जगमांहिं सहज वैरागी;
ज्ञानी मगन विषय सुख मांही, यह विपरीत संभवै नांही।

ज्ञानी को चैतन्य के अतीन्द्रिय आनन्द के समक्ष बाह्य इन्द्रिय-विषय तुच्छ भासित हुए हैं। जिसे आत्मा की उपासना का प्रेम हो, उसे जगत के बाह्यविषयों के प्रति वैराग्यभावना होती है। 'बाह्य विषयों में क्या बुराई है!'—ऐसी भावना उसकी नहीं होती। जहाँ बाह्य विषयों की रुचि हो, वहाँ चैतन्य का प्रेम नहीं हो सकता। जहाँ चैतन्य का प्रेम हो, वहाँ बाह्य विषयों में सुखबुद्धि नष्ट हो जाती है; इसलिये श्रावक को सदैव संयम की भावना होती है और शक्ति अनुसार व्रतादि का पालन करके संयम की भावना को दृढ़ करते हैं।

(५) तपः—संयम के उपरान्त तप भी करते हैं। अष्टमी, चतुर्दशी के उपवास या एकाशन आदि प्रकार के तप श्रावक अपनी शक्ति-अनुसार करते हैं। तप के बारह प्रकार हैं—देव-गुरु की विनय, वैयावृत्त (—भक्तिपूर्वक उनकी सेवा) दोषों का प्रायश्चित, चैतन्य के ध्यान का अभ्यास—यह सब तप के प्रकार हैं; ऐसे तप के अभ्यास द्वारा श्रावक अपनी इच्छा को संकुचित बनाते हैं और चैतन्य की आराधना में उपयोग को विशेषरूप से लगाते हैं, अहा, श्रावकदशा क्या है, उसकी जगत् को खबर नहीं है। श्रावक कुल में जन्म लेकर श्रावक नाम धारण करनेवालों को भी श्रावकधर्म का पता नहीं है! जितने मुनियों के आचरण हैं, वे सब एकदेशरूप से श्रावकों के भी होते हैं;—ऐसा श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव ने "पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय" में कहा है।

(६) दानः—श्रावक सदा अपनी शक्ति के अनुसार दान करता है। लाखों की पूँजी में से पच्चीस-पचास रुपये का दान करे, वह शक्ति-अनुसार दान नहीं कहलाता। देखो, मुनि आदि संत-धर्मात्माओं को किसी के धन से कोई प्रयोजन नहीं है, किन्तु श्रावक को तृष्णा कम करने का ऐसा भाव आये बिना नही रहता। अहा, मैं तो एक शुद्धचैतन्य हूँ, एक परमाणु मात्र मेरा नहीं है, वह परद्रव्य है—ऐसी भावना और प्रतीति जिसके वर्तती है, उसे परिग्रह की ममता घटाने का भाव अवश्य होता ही है, इसलिये तृष्णा कम करके धर्मात्मा मुनियों तथा साधर्मियों को आदरपूर्वक अपनी वस्तु का दान करता है और दूसरे दीन-दुःखी जीवों को भी करुणापूर्वक सहायता पहुँचाता है। लौकिक रुचिवाले जीव जिसप्रकार प्रतिदिन लक्ष्मी प्राप्त करने की ममता करते हैं, उसीप्रकार धार्मिक प्रीति वालों को प्रतिदिन ममत्व कम करना चाहिए।—यह श्रावक का प्रतिदिन का कर्तव्य है। प्रातः से संध्या तक प्रमाद की पोटली बनकर विषय-कषाय में लीन रहते हैं; लक्ष्मी आदि की

तीव्र लालसा में धर्म के लिये अवकाश भी नहीं निकालते—ऐसे जीवों को धर्म कहाँ से होगा? —अरे, आत्मसाधना के लिये तो सारी दुनिया का मोह-ममत्व छोड़ना पड़ता है। पुत्र-पुत्री के विवाहादिक लौकिक-कार्यों में उत्साह दिखाये और आत्महित की दरकार न करे, देव-गुरु-शास्त्र की उपासना के संस्कार न डाले, वह वास्तव में श्रावक नहीं है। जिसे धर्म की प्रीति हो, ऐसे श्रावक को नित्य करने योग्य छह कर्तव्यों के संस्कार अवश्य होते हैं।

आत्मा का सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होने के पश्चात् जब तक स्वरूप में निर्विकल्प उपयोग न हो, तब तक धर्मात्मा को वीतरागदेव की पूजा-भक्ति, संत-गुरु की सेवा, धर्मात्मा का बहुमान, शास्त्र-स्वाध्याय आदि के भाव होते हैं, और वह उसका दैनिक कर्तव्य है। 'इतना तो करना पड़ेगा'—ऐसा नहीं, किन्तु अंतर से सहज ही वैसा भाव आता है। जिसप्रकार लौकिक रुचिवाला राजा की तथा माता-पिता परिवार आदि की सेवा करता है; उसीप्रकार धर्म की रुचिवाला धर्म के सम्राट ऐसे जिनेन्द्र भगवान की, निर्ग्रंथ गुरु की, ज्ञानी धर्मात्माओं की बहुमानपूर्वक सेवा-उपासना, तथा वीतरागी शास्त्रों की स्वाध्याय द्वारा प्रतिदिन स्वभाव की भावना का पोषण और संयम तथा तप का अभ्यास एवं धर्मात्मा के प्रति भक्ति-वात्सल्यपूर्वक दान करता है। अन्य दु:खी-रोगी जीवों के प्रति करुणा से दान करता है। कोई विवाहादि पापकार्यों में लोभ करे तो लोग उसको लोभी कहकर अपयश करते हैं, किन्तु धर्म के कार्य में लोभ करे तो इहलोक-परलोक दोनों बिगड़ते हैं। धर्म प्रेम की अपेक्षा संसार प्रेम विशेष होने से सम्यक्त्व दूषित होता है; इसलिये 'नियमसार' के आलोचना अधिकार में मुनिराज कहते हैं कि योग्य स्थान पर धन व्यय का अभाव, सो लोभ है। विषय कषायों के पोषण में या लड़का-लड़की के विवाह में लाखों रुपये खर्च कर देता है और जिनमन्दिरादि प्रभावना कार्यों में सौ-दो सौ के लिये भी आनाकानी करता है, तो ऐसे लोगों को योग्य कार्य में धन का सदुपयोग करने की समझ नहीं है। वास्तव में उन्हें संसार और धर्म के बीच का विवेक ही नहीं है। अरे, श्रावक नाम धारण करके भगवान के दर्शन न करे, गुरु की सेवा न करे, शास्त्र स्वाध्याय या श्रवण न करे, धर्मकार्यों में उत्साह न बतलाये, दानादि न करे तो वह श्रावक ही नहीं है—मायाचारी है; उसको चैतन्य की उपासना नहीं होती। जो चैतन्य का उपासक हुआ, जिनदेव का भक्त हुआ, उसे देवपूजा आदि छह प्रकार के कार्यों के संस्कार अवश्य होते हैं।

—इसप्रकार श्रावक के छह कर्तव्यों का वर्णन किया। तदुपरान्त उसे सामायिक का भी अभ्यास होता है—यह बात आठवें श्लोक में कहेंगे ॥७॥

महान प्रयत्न से तत्त्व श्रवण

जिसप्रकार भूमि में बोये हुये बीज को खारे जल से सींचे तो खराब हो जाता है, व मीठे जल से सींचा जाये तो अच्छी तरह से फलता है। उसीप्रकार कुतत्त्वों के श्रवण से कुध्यान (आर्तरौद्रध्यान अथवा पर में तथा राग में कर्तृत्व ममत्वरूप कुध्यान) व उत्तम तत्त्वों के श्रवण से उत्तम ध्यान की प्राप्ति होती है। इसलिये जो विवेकवान हैं, जिन्हें सच्चे आत्मस्वरूप को प्राप्त करने की जिज्ञासा है, वे पर में व रागादि में कर्ता, भोक्ता व स्वामित्व की श्रद्धा को तथा काम, भोग, बंधन की प्रवृत्ति की ओर उन्मुख हुई बुद्धि को खारे पानी के समान सदा के लिये छोड़ें; व महान प्रयत्न से मधुर जल के समान सुतत्त्वों का ज्ञानी पुरुषों के समागम से श्रवण करें।

इसप्रकार उत्तम तत्त्वश्रवण से हित-अहित के निर्णय करें तो कल्याणमूर्ति उपादेयरूप आत्मतत्त्व का निश्चय-आश्रय व उससे होनेयोग्य कल्याण की प्राप्ति अवश्य होगी। इसलिये विद्वानों को महान प्रयत्न से उत्तम तत्त्वों का श्रवण करना चाहिये। *(योगसार—अमितगति आचार्य)*

ग्राहकों से निवेदन

आत्मधर्म का यह ११वाँ अंक पाठकों के पास पहुँच गया, अब १२ वाँ अंक छपने पर भेजा जावेगा। इसके साथ ही वार्षिक मूल्य भी समाप्त हो जावेगा। मँहगाई के कारण ४.००) में लगात पड़ने पर भी घाटा उठाकर ३) रुपया सालाना ही चंदा रखा गया है, अत: ग्राहक गण आगामी वर्ष का वार्षिक मूल्य ३) रुपया मनिआर्डर द्वारा शीघ्र ही भेज देवें। मनिआर्डर से भेजने पर आपको वी.पी. खर्च ८१ नये पैसे की बचत होगी। अत: शीघ्र ही ३) रुपया मनिआर्डर से भेज दें, साथ में अपना ग्राहक नंबर, पूरा पता, पोस्ट व जिला आदि स्पष्ट लिखें। किसी भी प्रकार की शिकायत के लिये सम्पादक आत्मधर्म श्री जगजीवन बाउचंद दोशी, पो० सावरकुंडला (सौराष्ट्र) को लिखें। मनिआर्डर निम्न पते पर भेजें—

आत्मधर्म कार्यालय
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
पोस्ट सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मिथ्यात्व का विष उतारने के लिये आचार्यदेव

आत्मज्ञान का अमृत पिलाते हैं

[श्री समयसार कलश १२२ पर, गोंडल में पूज्य गुरुदेव का प्रवचन]

(माघ शुक्ला ९, वीर संवत् २४८७)

श्री समयसार परमागम है; उसकी सर्वोत्तम टीका करनेवाले श्री अमृतचंद्राचार्य एक हजार वर्ष पूर्व हो गये हैं; उन्होंने 'नमः समयसाराय' से प्रारम्भ करके मंगलाचरण किया है। यह निम्नोक्त कलश मध्य मंगलरूप है:—

इदमेवात्र तात्पर्यं हेयः शुद्धनयो न हि।
नास्ति बंधस्तदत्यागात्त न्यागाद्बंध एव हि॥१२२॥

अर्थ:—यहाँ यही तात्पर्य है कि शुद्धनय त्यागने योग्य नहीं है; क्योंकि उसके अत्याग से (ग्रहण से) बंध नहीं होता और उसके त्याग से बंध ही होता है।

सम्पूर्ण शास्त्र का सार यह है कि शुद्धनय त्यागने योग्य नहीं है। (शुद्धनय और उसका विषय जो पूर्णस्वरूप शुद्धात्मा—दोनों को यहाँ एक-अभेद माना है।) यह कलश मध्य-मंगल है। मंगल का अर्थ निम्नानुसार है:—

मंग = पवित्रता, सुख; उसे
ल = लाये, प्राप्त कराये वह।

आत्मा में निर्मल श्रद्धा, ज्ञान और अतीन्द्रिय सुख अनुभव द्वारा प्रगट हो, उस भाव को सर्वज्ञ भगवान मंगल कहते हैं। संसार के माने हुए मंगल को मंगल नहीं कहते, क्योंकि वह नाशवान है।

मंगल का दूसरा अर्थ इसप्रकार है:—

मम्=शरीर और पुण्य-पाप में ममत्वरूपी जो पाप उसे, गल=गाले, ऐसे शुद्धभाव को मंगल कहते हैं।

'शुद्धनय' वह सम्यक् श्रुतज्ञान प्रमाण का अंश है। हितकारी—अहितकारी क्या है, उसका यथार्थ निर्णय करके जो ज्ञान अपने त्रैकालिक पूर्ण ज्ञानघनस्वरूप में ले जाये, उसका नाम 'शुद्धनय' है। राग का जो भाग शेष रहा, उसे हेयरूप से जाने, वह 'व्यवहारनय' है तथा क्रमशः होनेवाले शुद्धि के भेद को भी जाने, वह भी 'व्यवहारनय' है।

जिसप्रकार पीपर में पूर्ण चरपराहट की स्थायी शक्ति है—ऐसा जानना, सो शुद्धनय-निश्चयनय; और उसमें क्रमशः प्रगट होनेवाली चरपराहट के भेद को जानना, कचास के भेद को जानना, सो 'व्यवहारनय' है।

श्रद्धा का विषय तथा शुद्ध निश्चयनय का विषय एक ही है। सर्व भेदों को गौण करके एक त्रैकालिक शुद्ध चिदानन्दघन पूर्ण स्वभाव को ही रुचि में लेकर उसमें ढलना, सो 'शुद्धनय' है।

'शुद्धनय त्यागने योग्य नहीं है।' इसका यह अर्थ है कि—आदर करने योग्य ऐसे इस आत्मा का शाश्वत सत् चिदानंदस्वरूप है; उस ओर दृष्टि (रुचि) करके, अशुद्धनय-व्यवहार का विषय आदरणीय-अनुसरण करने योग्य नहीं है, ऐसा जानना। शरीर, मन, वाणी मेरे नहीं हैं; मैं उनका कर्ता करानेवाला या प्रेरक नहीं हूँ; पुण्य-पापरूप विकार, वह जल में सेवार (काई) की भाँति मैल है; वह मेरा स्वरूप नहीं है; वह बंध का—दुःख का कारण है किंतु धर्म का कारण नहीं है; इसलिये उसका (अशुद्धनय के विषयों का) आदर-आश्रय-रुचि छोड़कर मात्र निज शुद्धस्वरूप का आदर-आश्रय करना चाहिये; यही करने योग्य है। बहुत लोग पूछते हैं कि—सत्य को जानकर फिर करना क्या? उनके लिये यही उत्तर है कि—इस सच्चे ज्ञान की क्रिया करना चाहिये। यहाँ वही सत्यज्ञान क्रिया करने को कहा जा रहा है।

पीपर के प्रत्येक दाने में पूर्ण चरपराहट की शक्ति भरी पड़ी है तथा हरा रंग सदा ज्यों का त्यों हैं; वह पीपर के दाने को घिसने से ही प्रगट होता है, उसे काटने से नहीं। और वह उसकी अपनी अंतरंगशक्ति—सामर्थ्य, योग्यता है, उसमें से अपने कारण से प्रगट होती है, बाहर से नहीं आती। उसीप्रकार प्रत्येक आत्मा, शरीर से भिन्न अपनी अनंत ज्ञानानंदशक्ति से सदा एकमेक है—परिपूर्ण है; उसे भूलकर बाह्यवृत्ति करता है, उससे पुण्य-पाप, राग-द्वेष, हर्ष-शोक की वृत्तियाँ उठती हैं; किंतु आत्मा उसरूप तथा उतना नहीं है, वह तो सदैव पूर्ण ज्ञानघन शक्ति से परिपूर्ण है; वह सदा ऐसा का ऐसा ही है। उसे दृष्टि में लेकर, उसकी श्रद्धा, ज्ञान तथा उसमें एकाग्रता करने से उसका ज्ञानानंदस्वभाव प्रगट होता है। किंतु कोई निमित्त (संयोग) अथवा शुभाशुभराग द्वारा वह प्रगट हो, ऐसा नहीं है। अंतर में ज्ञानानंद ध्रुव शक्ति नित्यस्थायी है; ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्मा का निश्चय करके उसके आश्रय से उसकी पवित्रदशा प्रगट की जा सकती है।

पूर्ण शुद्धस्वरूप की श्रद्धा-ज्ञान होने पर भी, ज्ञानी को जब तक पूर्ण चारित्र नहीं है, तब तक दया, दान, पूजा, भक्ति का शुभराग आता अवश्य है, किंतु उस शुभराग को वे करनेयोग्य नहीं

मानते। कोई जड़कर्म आदि मुझे राग-द्वेष कराते हैं या सुख-दुःख देते हैं, ऐसा वह नहीं मानता। मैं पर का कुछ कर सकता हूँ या पर मेरा कुछ कर सकता है—ऐसा वह नहीं मानता; क्योंकि ऐसा तीन काल-तीन लोक में हो नहीं सकता।

धर्म कहीं बाहर से नहीं लाया जा सकता। वस्तु का स्वभाव, सो धर्म है। अमुक क्षेत्र में या अमुक काल में ही हो सके ऐसा धर्म नहीं है। मिथ्यात्व, शुभाशुभभाव दुःखदाता हैं; भूल-विकार क्षणिक है, दुःखरूप है; उसका नाशक त्रैकालिक निर्विकार स्वभाव है। भेदविज्ञान द्वारा त्रैकालिक पूर्ण ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय करके उसी में वर्तमान ज्ञान को उन्मुख करना, सो शुद्धनय है और वह धर्म है।

जब तक जीव इस स्वाधीन स्वरूप को न जाने, तब तक वह पुण्य-पाप का कर्ता होकर संसार में भटकता है। दया, दान, व्रत, तप करे तो पुण्य होता है और उसके फल में धूल (धन-संपत्ति) की प्राप्ति होती है। जीव धन-पैसे का ममत्व करता है, इसलिये वह ममत्व उसे मिलता है। जीव ममतावान अथवा वीतरागी समतावान हो सकता है, किंतु पैसावान कभी नहीं हो सकता; क्योंकि पैसा वास्तव में उसे मिलता ही नहीं।

'हमें अपवित्रता नहीं चाहिये'—इसका यह अर्थ हुआ कि हमें पवित्र होना है। वर्तमान दशा अपवित्र है अवश्य, किंतु वह क्षणिक है, नित्य नहीं है; इसलिये उसे दूर किया जा सकता है। उसे दुःखरूप जानकर-हटाकर हमें उसके स्थान पर सुखमय पवित्र दशा को लाना है। तो वह दशा आयेगी कहाँ से ?—कि अंतर में ध्रुव पवित्र ज्ञानानंदस्वभाव नित्य है; उसका आश्रय करे तो उसकी एकाग्रता के बल द्वारा अंतरंग की शक्ति प्रगट होती है। इसप्रकार अंतर से पवित्रता आती है और अपवित्रता उत्पन्न नहीं होती। जिसप्रकार पीपर में ऊपर जो काला रंग होता है, वह दूर हो सकता है और उसके स्थान में पूर्ण हरापन—चरपराहट प्रगट हो सकती है; उसीप्रकार आत्मा में से अपवित्रता दूर होकर पवित्रता प्रगट हो सकती है।

बहुत से लोग पूछते हैं कि—वीतरागता करने योग्य है, यह तो माना; लेकिन जब तक वह प्रगट न हो, तब तक पुण्य करने योग्य है न ? परंतु यदि यथार्थ बात समझ ले तो वह करने या न करने का प्रश्न ही न उठे। क्योंकि जब तक राग की भूमिका है, तब तक अशुभ से बचने के लिये शुभ आता है—होता है, किंतु ज्ञानी को उसकी भावना नहीं होती; क्योंकि पुण्य-पाप दोनों ही आस्रव हैं, बंध के कारण हैं।—इसप्रकार उन्हें जानना, वह व्यवहार का कार्य है। ज्यों का त्यों

जानने में चैतन्य समझदार है, उदार है। अंतर में नित्य एकरूप सामान्यस्वभाव विद्यमान है, उस पर दृष्टि डालना, सो शुद्धनय है और वह छोड़ने योग्य नहीं है; क्योंकि उसका ध्येय संसार के सर्व दुःखों से छुड़ाकर पूर्ण पवित्रता में पहुँचाना है।

एक गाँव में गये तो वहाँ के कुछ किसान लोग 'अगाधगति' नाम की पुस्तक लेकर समझने के लिये आये। कहने लगे कि—महाराज, इसमें तो देखिये, क्या कहना चाहते हैं ? हमारी समझ में कुछ नहीं आता। उनसे कहा कि—पढ़ो क्या लिखा है। उसमें लिखा था कि—'यहाँ की उपासना से यहीं का फल मिलेगा.....' और बीस पंक्तियों में उसका स्पष्टीकरण किया था। उसे पढ़ने से स्पष्ट हुआ कि—दया, दान, व्रत, जप-तप, तीर्थ, नामस्मरण, भजन, स्तुति, प्रार्थना, सेवा-पूजा, शास्त्र स्वाध्याय आदि का फल संसार है, वह जन्म-मरण की गति है। यह सब करोगे तो यहीं का अर्थात् संसार का फल मिलेगा... जगत के जंजाल में फँसे रहोगे.... आदि। उनका समाधान करते हुए कहा कि—आत्मा की प्रतीति करने से सच्चे सुख की प्राप्ति होती है, उससे विरुद्ध पुण्य-पाप वह दुःख है—संसार है।

पुण्य-पाप तो विभाव है; दुःख है। पुण्य का भाव, वह मंद आकुलता है; पाप का भाव, वह तीव्र आकुलता है; इसलिये उसकी दृष्टि (रुचि-भावना) छोड़कर अंतर में उससे रहित जो ध्रुवस्वभाव है, उस पर दृष्टि स्थिर करो। जो ज्ञान अंतरस्वभावोन्मुख हो, वह शुद्धनय है और वही ग्रहण करने योग्य है।

जिसप्रकार समुद्र में मध्य-बिन्दु से उछलने पर ज्वार आता है; उसे कोई रोक नहीं सकता, उसीप्रकार आत्मा ध्रुव ज्ञानानन्द सागर है, उसके आलम्बन की दृष्टि से जागृत हुआ, उसे कोई रोक नहीं सकता। जिसप्रकार सूर्य में प्रकाश प्रगट होने पर उसे कोई अंधकार रोक नहीं सकता; अंधकार अंधकार में है; उसीप्रकार राग, राग में है, क्षणिक है, विरुद्ध है, दुःखदाता ही है—ऐसा जाने तो उसका तिरस्कार करनेवाले अरागी स्वभाव में रुचिवान हुए बिना न रहे।

आत्मा सदैव पूर्ण ज्ञानस्वभावी है; उसकी श्रद्धा छोड़ने योग्य नहीं है; क्योंकि वह मोक्ष का कारण है; और पुण्य-पाप के विकल्परूप अशुद्धता छोड़ने योग्य है, क्योंकि उसके आश्रय से बंधन-दुःख ही होता है।

नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते।
चित्स्वभावाय भावाय सर्वभावान्तरच्छिदे॥१॥

पूर्णता के लक्ष से प्रारम्भ-पूर्ण साध्य को, शुद्धता को लक्ष में रखकर, अंतर में पूर्ण परमात्मभाव (ध्रुव द्रव्यस्वभाव) है, उसी को नमन करता हूँ, उसी में परिणतन करता हूँ; ढलता हूँ—इसप्रकार प्रथम मंगल किया है। दूसरे मंगल में कहा कि शुद्धदृष्टि त्यागने योग्य नहीं है, अंतिम मंगल में प्रत्येक द्रव्य का स्वतंत्र परिणमन बतलाने के लिये कहा कि—इस शास्त्र की रचना शब्दों ने की है—इसने नहीं की। आचार्य तो ज्ञातापने को अपना स्वरूप जानते हैं और कहते हैं कि शब्द रचना मेरा कर्तव्य नहीं है। महान अध्यात्म शास्त्र की टीका का राग (विकल्प) आया, किंतु उस राग (विकल्प) का कर्ता, भोक्ता या स्वामी मैं नहीं हूँ। वाणीरूप से जो ध्वनि उठती है, वे शब्द भाषा -वर्गणा से होते हैं; मैं तो ज्ञाता ही हूँ; मुझमें शब्द नहीं हैं; मुझमें तो अविनाशी ज्ञानादि गुण हैं। वर्तमान ज्ञान को त्रैकालिक स्वभाव में युक्त किया है, इसलिये निर्मल श्रद्धा-ज्ञान-चारित्ररूपी रत्नत्रय इस आत्मा में उछलते हैं। स्वतंत्रता की, दो तत्त्वों की भिन्नता की दृष्टि करनेवाला रागादि (पुण्य-पाप) को आदरणीय नहीं मानता। राग-द्वेषादि दोषों को नष्ट करनेवाला त्रैकालिक निर्दोष कौन है, उसे जाने बिना अंशमात्र दोष दूर नहीं हो सकता और अंशमात्र मोक्षमार्ग का विवेक नहीं आता। हाँ, परलक्ष से राग को मंद कर सकता है और उससे पुण्य होता है, किंतु धर्म नहीं हो सकता।

अपनी चतुराई से धनादि की प्राप्ति होती है, ऐसा मोही-अज्ञानी मानते हैं, किंतु उनकी प्राप्ति वर्तमान पुरुषार्थ के आधीन नहीं है। जिसप्रकार पूर्व पुण्य के बिना धनादि की प्राप्ति नहीं होती, उसीप्रकार वर्तमान नये पुरुषार्थ के बिना धर्म (वीतरागी-दृष्टि-ज्ञान-आनन्द) की प्राप्ति नहीं होती।

वर्तमान दशा में मति-श्रुतज्ञान है; उसके द्वारा त्रैकालिक स्वभाव और क्षणिक विभाव का विवेक करके, ज्ञान को अंतर में ध्रुवस्वभाव में उन्मुख करना, वह धर्म है; वह प्रयत्न सच्चा पुरुषार्थ है।

जिसे धर्म और पुण्य-पाप की भिन्नता का विश्वास न आये, उसे वर्तमान ज्ञान के सामर्थ्य का विश्वास नहीं आता।

'अपने को आप भूल के हैरान हो गया।' आत्मा सदा ज्ञानमूर्ति है। उसमें शरीर, इन्द्रियाँ तथा उनके स्पर्शादि विषयों से रहित निरपेक्ष ज्ञान एवं सुख भरा हुआ है; उस शक्ति का विश्वास करने से ज्ञान अंतरोन्मुख होने लगता है। आत्मा में स्पर्श, रस, गंध, वर्ण नहीं हैं; किंतु सदा अरूपी अतीन्द्रिय ज्ञान-आनन्द, वह उसका रूप है। उसे भूलकर जीव अनंत बार अनेकों प्रकार के पुण्य-पाप के भाव कर चुका है; धर्म के नाम पर अनंत बार त्यागी-साधु हुआ किंतु पुण्य-पाप के भाव मेरे नहीं हैं और वे दुःखदाता हैं—ऐसा कभी नहीं माना। मेरा सुखदाता भाव मुझमें ही है—ऐसी दृष्टि तथा अनुभव किये बिना किंचित् आत्महित नहीं होता।

उपवास क्या है ? आत्मभाव द्वारा आत्मा में वास करना। अंतर में इच्छा-आकुलता रहित ज्ञानानंदस्वभाव मेरा है; उसे दृष्टि में लेकर विकल्प-पुण्य-पाप वह मेरा कार्य नहीं है; ऐसा जानकर अतीन्द्रिय ज्ञान-आनन्द से भरपूर एकरूप ज्ञायकभाव में एकरूप होकर वास करना, उसका नाम उप=समीप; वास=बसना, सो उपवास है।

कषाय विषयाहारस्त्यागो यत्र विधीयते।
उपवासः स विज्ञेयः शेषं लंघनकं विदुः॥

मुख्य कषाय मिथ्यात्व है। जहाँ कषाय, विषय और आहार का त्याग किया जाता है, वहाँ उपवास जानना, शेष सबको श्रीगुरु लंघन कहते हैं।

सर्व प्रथम अतीन्द्रिय ज्ञानमय आत्मा की महिमा आये बिना विषय-कषायरूप पाप के प्रति तुच्छता कभी नहीं आती।

प्रत्येक आत्मा में सदा ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सुख, वीर्य, अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व, प्रभुत्व, विभुत्व, सर्वज्ञत्व, सर्वदर्शित्व आदि अनंत शक्तियाँ (अनंत गुण) एक साथ विद्यमान हैं, किंतु प्रथम उनकी रुचि न करे, उनका मूल्य न समझे तो जिज्ञासासहित सुनेगा भी क्या ?

आत्महित का अवसर यही है। अनमोल मनुष्य भव प्राप्त हुआ है। सत्य कानों में पड़ते ही जो स्वीकार कर ले, उसके लिये अवसर आ चुका है। जिसमें रुचि हो, उसमें वायदे नहीं किये जाते। रागादि दोष होने पर भी उन्हें गौण करनेवाला त्रैकालिक ज्ञायक हूँ—ऐसी दृष्टि के बल से स्वभाव का विश्वास करके कुलाँट मारे तो स्वभाव समुद्र में पूर्ण ज्ञानानंद उछल रहा है, उसमें निर्विकल्पदृष्टि करते ही निर्मल आनन्द तरंगें अंतर से उठने लगती हैं।

अज्ञानी अनादि काल से बाह्य में तो सब कुछ मान बैठा है, किंतु अंतर की मर्यादा निश्चित नहीं करता। पर का करना-न करना, रखना, रोकना आदि कुछ भी आत्मा के अधिकार की बात नहीं है; क्योंकि कोई किसी का कर्ता तीन काल में नहीं हो सकता। जब तक पर में कर्तृत्व मानता है, तब तक संयोग में से तथा पुण्य-पाप में से रुचि को नहीं हटा सकता। बाह्य में अनुकूलता-प्रतिकूलता की कल्पना करके अनुकूलता की आशा करता है और प्रतिकूलता से भयभीत होता है; इसलिये अंतर में स्वतंत्र स्वभाव को देखने का धैर्य नहीं आता। अपनी भूल से मुझे दुःख होता है; यथार्थ ज्ञान करने से सुख प्राप्त होगा—इतनी मर्यादा निश्चित करे तो अंतर में देखने का धैर्य आये।

काम-क्रोधादि, राग-द्वेष, पुण्य-पाप के विकल्प क्षणिक हैं, वह मेरा नित्य स्थायी स्वभाव नहीं है; यदि वे नित्य स्थायी हों तो उनका कभी नाश नहीं हो सकता; किंतु ऐसा नहीं है। यदि यथार्थ की—वीतरागता की दृष्टि से अंतर में स्थिरता का पुरुषार्थ करे तो रागादि दोष दूर हो सकते हैं। रागादि ज्यों के त्यों नहीं रहते, प्रतिक्षण नवीन-नवीन अवस्थारूप से न्यूनाधिक होकर बदलते रहते हैं; मेरा स्वभाव उतना तथा उसरूप नहीं है; क्योंकि वे तो दु:खदाता हैं और मेरे अंतर में जो ध्रुवस्वभाव विद्यमान है, वह सुखदाता है। पर में तेरा कार्य नहीं होता और पर से (-पर के कारण) तुझमें कार्य नहीं होता—ऐसा निर्णय करना चाहिये।

पुण्य-पाप को दु:खदाता जानकर श्रद्धा में से उनका आश्रय छोड़ दे। तेरा सहज ज्ञायक स्वभाव सदा परिपूर्ण है; उसी का आश्रय करना योग्य है।

ज्ञानी को भी जब तक पूर्ण वीतरागता प्रगट न हो, तब तक राग होता है; दया, दान, पूजा, यात्रादि के शुभभाव भी होते हैं; कभी-कभी अशुभभाव भी होते हैं; वे दोनों ही बंध के कारण हैं—ऐसा वह जानता है। जिसे सुखी होना हो, उसे अभी से यथार्थ प्रतीति करना होगी। यदि इसी भव में सच्ची श्रद्धा और भेदज्ञान नहीं करेगा तो चौरासी के अवतार में परिभ्रमण करना पड़ेगा।

यदि इसीप्रकार श्रद्धा-ज्ञान की नीवं दृढ़ न करे तो चौरासी का रोना नहीं मिटेगा। भगवान! तूने सत्य का श्रवण नहीं किया। प्रत्येक आत्मा में शक्तिरूप से परमात्मपना विद्यमान है; उसकी श्रद्धा तथा अभ्यास करे, तभी वह प्रगट होता है।

धर्म के नाम पर लोग तरह-तरह की बातें करते हैं। जिसप्रकार कड़वे चिरायते की थैली पर मीठी मिसरी का नाम लिखा होने से वह चिरायता मिसरी नहीं बन सकता; उसीप्रकार कोई बाह्य में साधु, महात्मा, ज्ञानी, त्यागी आदि नाम धारण कर ले और अंतर की मिथ्यारुचि को न छोड़े तो उसके संसार का अंत नहीं आ सकता।

सर्वज्ञकथित छहों द्रव्यों की स्वतंत्रता स्वीकार न करे, बंध के कारण को (आस्रवतत्त्व को) धर्म या धर्म का कारण माने, शास्त्र पढ़ ले और धर्म के नाम से अमुक बातें करे तो उससे क्या? मुख्य प्रयोजनभूत बात में यदि उसे सत्य-असत्य का निर्धार नहीं है तो उसका सब मिथ्या है।

यहाँ तो आचार्यदेव अनादिकालीन मिथ्यात्व का विष उतारने के लिये अमृत का पान कराते हैं कि—भाई! पुण्य-पाप की रुचि छोड़कर त्रैकालिक निर्मल स्वभाव को देख, उसमें रुचिवान-प्रीतिवान हो। शुभ-अशुभ राग होने पर भी, सर्व रागादि दोष-विकार का नाशक हूँ, मैं ज्ञाता ही हूँ—ऐसा स्वानुभव से निर्णय करे, उसे उसी क्षण से सहजानन्द दाता अमृतमय धर्म का प्रारम्भ होता है।●

धर्म में विवाद कैसा ?

वस्तु स्वरूप के निर्णय होने पर आत्मश्रद्धारूप जो धर्म आत्मा में प्रगट होता है, उससे तत्काल ही अपूर्व सुख-शांति का अनुभव होता है। धर्म से सौहार्द, अनुकंपा सौजन्य और विषयों से विरागता अंतर से बढ़ती जाती है। वहाँ कदाग्रह अहंमन्यता और द्वेष-घृणा को स्थान ही कहाँ है ?

धर्म, वस्तुस्वरूप के निर्णय और निश्चय के बाद प्रगट होता है, तभी आत्मा में अभयता एवं आनन्द की सृष्टि होती है। वस्तुतत्त्व के निर्णय बिना धर्म का प्रवेश भी नहीं होता। अत: स्वरूप निर्णय के लिये सबसे पूर्व जिज्ञासु बनना आवश्यक है। जिज्ञासु बनने के लिये सम्यग्ज्ञान और सम्यग्ज्ञानी का शिष्यत्व स्वीकार करना पड़ता है। सिर्फ लम्बी-चौड़ी परीक्षायें पास कर लेने से कोई स्वरूप निर्णय नहीं हो जाता। क्योंकि आगम को समझने के लिये सबसे पूर्व उनकी गहराई में जाना होगा। प्रत्येक वाक्य का अनेक अर्थों में विचार करना होगा। अन्यथा ११ अंग और ९ पूर्व के पाठी मिथ्यादृष्टि कैसे बने रहते ?

जो बन्धु शास्त्र पढ़कर सिर्फ शब्दार्थ पकड़ लेते हैं, वे आगम के रहस्य से बहुत दूर रहते हैं। हमें आगम वाक्य पढ़कर उसका भावार्थ, नयार्थ, तात्पर्यार्थ और उसका फलित अर्थ निकालना चाहिये, तभी हम आगम के रहस्य को समझ सकेंगे। सिर्फ सीधे-सीधे पढ़ लेने से उसकी गहराई नहीं पा सकते और न उस पढ़े हुये आगम का तत्त्व हमारे पल्ले पड़ सकता है। यों तो सिर्फ शब्दार्थ पढ़ लेने से आगम में परस्पर विरुद्धता दृष्टिगोचर होगी। क्योंकि प्रथमानुयोग जो कहता है, उससे विपरीत चरणानुयोग में मिलेगा, इसीप्रकार करणानुयोग और द्रव्यानुयोग में भी परस्पर भिन्नता दिखेगी। किंतु यदि हम उन सबके पाँचों अर्थ सही घटित करेंगे तो हमें कहीं विरोध नजर नहीं आवेगा।

उदाहरणस्वरूप प्रथमानुयोग में जिसने कौए का मांस छोड़ दिया, उसे व्रती कह दिया गया, किंतु चरणानुयोग कहता है कि व्रत तो अणुव्रत या महाव्रत ही होते हैं, इनको पालनेवाला ही व्रती है। तब करणानुयोग कहता है सिर्फ व्रत धारण करने से कुछ नहीं होता, अपने परिणामों को जब तक निर्मल नहीं बनाया जायेगा, तब तक बाह्य त्याग कुछ महत्त्व नहीं रखता। इसके आगे द्रव्यानुयोग कहता है भाई ! जब तक स्वद्रव्य और परद्रव्य का भान नहीं, तब तक धर्म का प्रारम्भ कैसा ? आत्मज्ञान के बिना सभी व्रत त्याग, जप, तप, संयम व्यर्थ हैं।

इसप्रकार अनुयोगों में भी परस्पर विरोध दिखता है, किंतु विरोध तभी तक है, जब तक हम उनके सिर्फ शब्दार्थ को पकड़कर रह जाते हैं। यदि उसकी नयार्थ आदि की गहराई में जावें तो हमें कोई विरोध नजर नहीं आयेगा तथा है भी नहीं। समझने की दृष्टि चाहिये।

आगम में दो तरह का कथन मिलेगा—एक द्रव्य के असली स्वभाव का कथन, जिसे निश्चय कहते हैं। दूसरा, पदार्थ का संयोगी अथवा भेदरूप कथन, वह व्यवहार कथन है। व्यवहार कथन सत्यार्थ नहीं है। क्योंकि व्यवहार में घी का घड़ा कह दिया जाता है, तथा रत्न को समझाने के लिये काँच का टुकड़ा बता दिया जाता है कि हीरा ऐसा होता है किंतु वह काँच हीरा नहीं है। ये सब उपचार कथन है, आश्रय करनेयोग्य नहीं है; इसलिये असत्यार्थ है। सत्य तो एक ही होता है, दो हो ही नहीं सकते। ऐसा भी है और ऐसा भी है, इसप्रकार वस्तु स्वरूप है ही नहीं। पदार्थ ऐसा है, यह अस्ति कथन हुआ और पर की अपेक्षा ऐसा नहीं है, यह नास्तिरूप कथन है। यही अनेकांत है। इसको समझे बिना वस्तु तत्त्व का निर्णय हो ही नहीं सकता।

कुछ भाई अधिक लिखकर यह कहते सुने जाते हैं, मैंने तो शास्त्रों में ऐसा पढ़ा है। ये शास्त्र क्या झूठे हैं? प्यारे भाई! वे शास्त्र तो आचार्य प्रणीत हैं, वे कैसे झूठे हो सकते हैं? हमारी और हमारी अर्थ झूठा है। यदि उसके नयार्थ आदि पूरी गहराई के साथ अर्थ नहीं लगायेंगे, तब तक अपनी मान्यता की अहंमन्यता नहीं छूटती और परस्पर विरुद्धता दिखती है। इसलिये मुमुक्षु को बड़ी सावधानीपूर्वक जिज्ञासु बनकर आगम का रहस्य खोजना चाहिये। एक वैज्ञानिक की तरह गहराई में गये बिना तत्त्व का निर्णय हो ही नहीं सकता। इसीलिये ये आपसी विवाद और बखेड़े खड़े हो रहे हैं। जिज्ञासु को कभी विवाद तो दृष्टिगोचर ही नहीं होता। इस दृष्टि को अपनाये बिना न तो आत्मकल्याण हो सकता है और न ये आपसी विवाद समाप्त हो सकते हैं। सुख-शांति पाने का तो प्रश्न ही नहीं उठ सकता। *(सन्मति संदेश से)*

शुद्ध चैतन्य प्रकाश की महिमा

वह परम ज्योति सर्वोत्कृष्ट शुद्ध चेतना प्रकाश जयवंत वर्तता है कि जिस शुद्धचेतना प्रकाश में समस्त जीवादिक पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं।—किसप्रकार? तो कहते हैं कि अपनी समस्त अनंत पर्यायों सहित प्रतिबिम्बित होते हैं।

भावार्थ—शुद्ध चैतन्य के प्रकाश की कोई ऐसी ही महिमा है कि जिसमें जगत के सर्व पदार्थ अपने-अपने आकारसहित प्रतिभासित होते हैं। जिसप्रकार दर्पण के ऊपरी भाग में घटपटादिक प्रतिबिम्बत होते हैं। दर्पण के दृष्टान्त का प्रयोजन इसप्रकार जानना कि-दर्पण को ऐसी इच्छा नहीं है कि मैं इन पदार्थों को प्रतिबिम्बित करूँ। जिसप्रकार लोहे की सुई चुम्बक पाषाण के पास स्वयमेव जाती है, उसीप्रकार दर्पण अपने स्वरूप को छोड़कर उनको प्रतिबिम्बित करने के लिये पदार्थों के पास नहीं जाता तथा वे पदार्थ भी अपना स्वरूप छोड़कर उस दर्पण में प्रवेश नहीं कर जाते। जिसप्रकार कोई पुरुष किसी से कहे कि हमारा यह काम अवश्य ही करो; उसीप्रकार वे पदार्थ अपने प्रतिबिम्बित होने के लिये दर्पण से प्रार्थना भी नहीं करते। ऐसा ही सहज संबंध है कि जैसा उस पदार्थ का आकार है, उसी आकाररूप होकर वह दर्पण में प्रतिबिम्बित होता है। अपने में प्रतिबिम्बित होने से दर्पण ऐसा नहीं मानता कि यह पदार्थ मेरे लिये अच्छा है, उपकारी है या राग करने योग्य है। दर्पण को तो समस्त पदार्थों में समानता होती है।

दर्पण में तो कुछ घट-पटादिक पदार्थों ही प्रतिबिम्बित होता है; किंतु ज्ञान दर्पण में तो समस्त जीवादिक द्रव्य प्रतिबिम्बित होते हैं, तथापि ऐसा कोई द्रव्य या पर्याय नहीं है कि जो ज्ञान में न आया हो। ऐसी शुद्धचैतन्यप्रकाश की सर्वोत्कृष्ट महिमा है और वही स्तुति करने योग्य है।

[—श्री अमृतचंद्राचार्य विरचित 'पुरुषार्थसिद्धि-उपाय' की
स्व० पंडित टोडरमलजी कृत टीका से]

सर्वज्ञता के निर्णय बिना सम्यग्ज्ञान कैसा ?

जगत के समस्त पदार्थों में प्रतिसमय उत्पाद-व्यय-ध्रुव बतलाये हैं, यह भगवान की सर्वज्ञता का चिह्न है—सर्वज्ञ भगवान की पहिचान पूर्वक, सर्वज्ञ भगवान द्वारा कथित यथार्थ वस्तु स्वरूप का अपने ज्ञान में निर्णय करना, यह धर्मी होने के लिये प्रथम कर्तव्य है। सर्वज्ञता के निर्णय किये बिना एक भी अंश का सच्चा ज्ञान नहीं होगा।

प्रत्येक वस्तु का स्वरूप उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वरूप है। उत्पाद यानी वस्तु में नवीन पर्याय उत्पन्न होना; व्यय यानी वस्तु की पूर्व पर्याय का नाश होना; और ध्रुव यानी स्थिर रहना। वस्तु में ऐसे उत्पाद-व्यय-ध्रुव तीनों एक समय में एक साथ हैं।

वस्तु अपने मूल स्वरूप में ध्रुव रहकर, उसमें प्रतिसमय नई-नई अवस्थाओं का उत्पाद होता है और उसी समय उसकी पुरानी अवस्था का व्यय होता है।

इस उत्पाद-व्यय-ध्रुव में बड़ा सिद्धांत है कि जिस समय जिस अवस्था का उत्पाद हो, उसी समय उस अवस्था का व्यय नहीं होता। और जिस पर्याय का उत्पाद हुआ, वह दूसरे समय स्थित नहीं रहती यानी एक की एक पर्याय विस्तृत होकर दो समय नहीं रहती; दूसरे समय में उसका व्यय हो जाता है; और ध्रुव स्वभाव तो उत्पाद-व्यय के बिना सदैव ज्यों का त्यों एकरूप स्थित रहता है। उस ध्रुवस्वभाव का लक्ष करने से सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्याय का उत्पाद और मिथ्यात्वादि पर्याय का व्यय हो जाता है।

उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप जो सत् है, उसमें कुछ ग्रहण करना-छोड़ना नहीं रहता किंतु ज्ञातृत्व ही रहता है। परद्रव्य अपने-अपने उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप सत् हैं, इसलिये उनमें आत्मा कुछ नहीं करता और आत्मा स्वयं भी प्रतिसमय उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप सत् है, उस समय-समय के सत् में कुछ फेरफार करना या ग्रहण-त्याग करना नहीं रहता, अकेला ज्ञातृत्व ही रहता है। इसप्रकार उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप सत् स्वभाव के निर्णय में ज्ञान और वीतरागता आ जाती है। जीव पुद्गल में अशुद्ध परिणमन के समय भी कर्ता, कर्म, करण आदि छहों कारक स्वतंत्र ही हैं। दे० पंचास्तिकाय गाथा ६२ की टीका।

आत्मा में पूर्व की अवस्थाएँ तो बीत गई हैं, इसलिये उनका क्या छोड़ना ? उनका व्यय हो गया है, इसलिये उन्हें छोड़ना नहीं रहता।

भविष्य पर्याय अभी हुई ही नहीं है, इसलिये उसमें भी क्या छोड़ना ?

और वर्तमान में जो अवस्था उत्पादरूप विद्यमान है, उसे भी क्या छोड़ना ? क्योंकि वर्तमान में तो वह 'है'; विद्यमान कहना और उसी समय उसे छोड़ने को कहना—यह दोनों एक साथ हो ही नहीं सकते। और दूसरे समय में तो उस अवस्था का व्यय हो ही जायेगा, इसलिये दूसरे समय भी उसे क्या छोड़ना ? और ध्रुव तो सदैव विद्यमान है, उसमें ग्रहण-त्याग नहीं है।

—इसप्रकार उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप सत् वस्तु जैसी है, वैसी है; उसमें कुछ छोड़ने जैसा है ही नहीं। ऐसा वस्तुस्वरूप ज्ञान में आया वहाँ वीतरागभाव ही रह जाता है। वीतरागभाव के समय विकार की उत्पत्ति नहीं होती, उस अपेक्षा से विकार को छोड़ा—ऐसा कहा जाता है। किंतु यह राग है और इसे मैं छोड़ूँ—ऐसी बुद्धि से राग नहीं छूटता।

पूर्व काल में राग हो गया, वह तो इस समय व्ययरूप है, इसलिये उस राग को छोड़ना नहीं रहता। भविष्य की पर्याय अभी हुई ही नहीं है; इसलिये उसमें से राग को छोड़ूँ—यह बात ही नहीं रहती और वर्तमान पर्याय में राग है, वह तो उत्पादरूप प्रवर्तमान है—वह सत् है—उसे वर्तमान में छोड़ा नहीं जा सकता। समय-समय के उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप ऐसे वस्तुस्वभाव का निर्णयपूर्वक ध्रुव ज्ञायकस्वरूप का आश्रय करने से ग्रहण-त्याग का आकुलभाव छूटकर वीतरागी ज्ञानभाव प्रगट होता है। इसप्रकार उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप सत्स्वभाव की पहिचान, वह मोक्षमार्ग है।

जगत के समस्त पदार्थों में प्रतिसमय उत्पाद-व्यय-ध्रुव बतलाये हैं, वह भगवान की सर्वज्ञता का चिह्न है; सर्वज्ञ के सिवा प्रतिसमय के उत्पाद-व्यय-ध्रुव को दूसरा नहीं जान सकता। स्वयंभू स्तोत्र में आचार्य समंतभद्रस्वामी कहते हैं कि—हे नाथ!

स्थिति-जनन-निरोध-लक्षणं चरमचरं च जगत् प्रतिक्षणम्।
इति जिन! सकलज्ञ-लांछनं वचनमिदं वदतां वरस्य ते॥४॥

जनन-व्यय-ध्रौव्य लक्षणंजगत् प्रतिक्षणं
चित-अचित आदि से पूर्ण यह हरक्षणं;
यह कथन आपका चिह्न सर्वज्ञ का
है वचन आपका आप्त उत्कृष्ट का।

हे मुनिसुव्रत जिन! आप वदतांवर हैं—प्रवक्ताओं में श्रेष्ठ हैं। आपका यह वचन कि 'चर और अचर जगत प्रतिक्षण स्थिति जनन-निरोधलक्षण को लिये हुए है'—यह आपकी सर्वज्ञता का

चिह्न है। जगत में जड़-चेतन, सूक्ष्म-स्थूल या मूर्त-अमूर्त समस्त पदार्थों में प्रतिक्षण उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य को एकसाथ लक्षित करना, वह सर्वज्ञता के बिना नहीं हो सकता; इसलिये हे भगवान! आपके ऐसे परम अनुभूत वचन से स्पष्ट सूचित होता है कि आप सर्वज्ञ हैं।

—इसप्रकार सर्वज्ञ भगवान की पहिचानपूर्वक, सर्वज्ञ भगवान द्वारा कथित यथार्थ वस्तुस्वरूप का अपने ज्ञान में निर्णय करना वह धर्मी होने के लिये प्रथम कर्तव्य है।

[—प्रवचन से]

सफल जन्म

इस संसार में किसका जन्म सफल है ?

शरीर से भिन्न चिदानंद तत्त्व को सम्यक्प्रकार से जानकर जो उसकी भावना करता है, उसका जन्म सफल है। मुनिराज श्री पद्मप्रभस्वामी नियमसार कलश-९३ में कहते हैं कि:—

मुक्त्वा कायविकारं यः शुद्धात्मानं मुहुर्मुहुः।
स भावयति तस्यैव सफलं जन्म संसृतौ॥

काय विकार को छोड़कर जो पुनः पुनः शुद्धात्मा की संभावना (अर्थात् सम्यक् भावना) करता है, उसी का जन्म संसार में सफल है। प्रथम तो शरीर से भिन्न चिदानंदस्वरूप का भान किया है; तदुपरांत जो शरीर से उपेक्षित होकर बारम्बार अंतर में शुद्धात्मा की ओर उन्मुख होकर उसकी भावना भाता है, उस धर्मात्मा का अवतार सफल है—उसने जन्म लेकर आत्मा में मोक्ष की ध्वनि प्रगट की है... इसलिये उसका जन्म सफल है। अज्ञानरूप से तो अनंत अवतार धारण किये, वे सब निष्फल गये हैं, उनमें आत्मा का कोई हित नहीं हुआ। इस अवतार में चिदानंदस्वरूप आत्मा की प्रतीति करके आत्महित साध लिया है, इसलिये धर्मी का अवतार सफल है।

(—पूज्य गुरुदेव के प्रवचन से)

सुवर्णपुरी समाचार

परोपकारी पूज्य कानजी स्वामी सुख शांति में विराजमान हैं। प्रवचन में सबेरे श्री प्रवचनसारजी शास्त्र गाथा २६ तथा दोपहर में श्री समयसारजी शास्त्र गाथा ६६ चालू है, बूंदी, जयपुर और ललितपुर से तीर्थयात्री संघ बड़ी संख्या में आये थे, खास पूज्य स्वामीजी के प्रवचन सुनने के लिये ठहरे थे।

सोनगढ़ में श्री गोगीदेवी दिगम्बर जैन ब्र० श्राविकाश्रम में स्वाध्याय-भुवन हॉल बन रहा है। फाल्गुन सुदी दूज के दिन हर साल के माफिक भगवान श्री सीमंधर प्रभु के जिनमंदिर की २३ वीं वर्षगाँठ का महोत्सव मनाया गया, बाहर गाँव से बहुत संख्या में मेहमान आये थे, भव्य रथयात्रा में जिनेन्द्र भगवान को विराजमान करके भक्ति, जयनाद, धुन सहित गाँव में घूमकर वन में अभिषेक, पूजा आदि का सुंदर कार्यक्रम था। अष्टाह्निका फाल्गुन सुदी ८ से १५ तक नंदीश्वर द्वीप बावन जिनालयस्थ जिन प्रतिमाजी के पूजन विधान की पूर्व तैयारी चल रही है।

राजकोट में भी तैयारी चालू है। सोनगढ़ के विस्तार में इस साल बारिश कम थी, मुमुक्षु मंडल ने गौ आदि पशुओं के लिये बड़ा केन्द्र खोलकर घास की व्यवस्था चालू कर दी है।

अध्यात्म योगी पूज्य सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी का पुनीत विहार

सोनगढ़ से फाल्गुन सुदी ६ तारीख १ मार्च, मंगल प्रयाण

राजकोट तारीख १ से २२-६-६३, चोटीला तारीख २३ और २४, थानगढ़ तारीख २५-३-६३, मोरबी तारीख २६ से ३१-३-६३, बांकानेर तारीख १ से ६-३-६३, जामनगर तारीख ७ से १०-४-६३, गोंडल तारीख ११ और १२, जेतपुर तारीख १३ और १४, वडिया तारीख १५-१६, (वडिया में जिनमंदिर को नया बड़ा शिखर) वींछिया तारीख १७ से २०-४-६३, लाठी तारीख २१ से २५-४-६३, जिनमंदिरजी को बड़ा नया शिखर तथा बड़ा स्वाध्यायमंदिर तथा

लाठी शहर में वैशाख सुदी दूज पूज्य स्वामीजी की जन्म जयंती।

सुरेन्द्र नगर, तारीख २६ से २६-४-६३,

जोरावरनगर, तारीख ३० से ६-५-६३,

जिनेन्द्र पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव जो सादगी से मनाया जायेगा, वैशाख सुदी १३

वढवाण शहर, तारीख ७ से ९-५-६३

लींबड़ी, तारीख १० से १२-५-६३ यहाँ बड़ा स्वाध्यायमंदिर भी बना है।

दहेगाम (अहमदाबाद), तारीख १३ से १६-५-६३,

यहाँ नया जिनमंदिर में वेदी प्रतिष्ठा उत्सव, वदी ५

अहमदाबाद, तारीख १७ से २०-५-६३

राणपुर, तारीख २१ से २३-५-६३

बोटाद, तारीख २४ से २७-५-६३, बड़ा स्वाध्यायमंदिर नया बना है।

यहाँ जिनेन्द्र वेदी प्रतिष्ठा उत्सव, जेठ सुदी ५

पाटी, तारीख २८-५-६३, गठड़ा, तारीख २६-५-६३

उमराला, पूज्य स्वामीजी की जन्मभूमि, यहाँ जिनमंदिर, स्वाध्यायमंदिर, और जन्मगृह स्मारक है, तारीख ३० से ३१-५-६३

सोनगढ़, तारीख १-६-६३, जेठ सुदी १० मंगल आगमन

ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयस्वभाव

(दूसरी आवृत्ति)

धर्म जिज्ञासुओं के लिये महान उपकारी साहित्य जो जैनधर्म का महत्वपूर्ण तात्त्विक और प्रयोजनभूत ग्रंथ है। जो जिज्ञासुओं के लिये सर्व समाधानरूप अपूर्व वस्तुस्वभाव के ज्ञानमय तत्त्वदृष्टि प्रगट करनेवाली महान चीज़ है। इसके मुख्य विषय—

१- क्रमबद्धपर्याय के स्वरूप का विस्तारपूर्वक स्पष्टीकरण तथा उनमें दोष कल्पना का निराकरण है।

२- सम्यक् अनेकांत गर्भित सम्यक् नियतवाद-जिसमें पुरुषार्थ, स्वभाव, काल, नियति और कर्म—ये पंच समवाय और क्रमबद्ध के निर्णय में स्वसन्मुख होने का सच्चा पुरुषार्थ तथा अनेकांत।

३- अनेकांत, निमित्त-उपादान, निश्चय-व्यवहार।

४- द्रव्य पर्याय संबंधी अनेकांत।

५- अनंत पुरुषार्थ।

६- वस्तुविज्ञान अंक जिसमें श्री प्रवचनसारजी गाथा ९९ के ऊपर पूज्य श्री कानजीस्वामी द्वारा प्रवचनों का सार है।

७- आत्मा कौन है और कैसे प्राप्त हो इस विषय में प्रवचनसार शास्त्र में ४७ नयों द्वारा आत्मद्रव्य का वर्णन है, उस पर खास प्रवचनों का सार-[जिसमें नियतनय, अनियतनय, कालनय, अकालनय से वर्णन है] बढ़िया जिल्द, सुंदर कागज व आकर्षक बढ़िया टाइप में उत्तम छपाई है, पत्र संख्या ४००, मूल्य २-५० नये पैसे। ५० पुस्तक लेने पर १० टका के हिसाब से कमीशन देंगे। इस पुस्तक की छपाई, कागज, बाइंडिंग आदि सर्वोत्तम होने पर भी लागत से डेढ़ रुपया कम मूल्य रखा गया है।

पता—**श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट**
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक वचनों का अपूर्व
लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

पंचास्तिकाय	४ ॥)
नियमसार	५ ॥)
समयसार, पृष्ठ ६१६ बड़ा साइज	५)
मूल में भूल (नई आवृत्ति)	।)
श्री मुक्तिमार्ग	॥=)
श्री अनुभवप्रकाश	॥)
श्री पंचमेरु आदि पूजासंग्रह	।।।)
समयसार प्रवचन भाग १	४ ॥)
समयसार प्रवचन भाग २	५ ।)
समयसार प्रवचन भाग ३	४ ॥)
समयसार प्रवचन भाग ४	४ ॥)
प्रवचनसार	५)
अष्टपाहुड़	३)
मोक्षमार्ग–प्रकाशक की किरणें प्र०	१ ।=)
द्वितीय भाग	२)
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला प्र०	॥–)
द्वितीय भाग	॥–)
तृतीय भाग	॥–)
जैन बालपोथी	।)
छहढाला मूल	१५ नये पैसे
दसलक्षण व्रत विधानपूजा	०–७५
ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	२ ॥)
मोक्षशास्त्र बड़ी टीका सजिल्द	५)
सम्यग्दर्शन (तीसरी आवृत्ति)	१.८५)
छहढाला (नई टीका)	८७ नये पैसे
जैन तीर्थ पूजा पाठ संग्रह सजिल्द	१ ।=)
अपूर्व अवसर प्रवचन और श्री कुंदकुंदाचार्य द्वादशानु.	८५ नये पैसे
भेदविज्ञानसार	२)
अध्यात्मपाठसंग्रह	५)
निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	=)
स्तोत्रत्रयी	॥)
लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	=)
'आत्मधर्म मासिक' लवाजम–	३)
आत्मधर्म फाइल वर्ष १–३–५–६–७–८–१०–११–१२–१३ वर्ष	३ ।।।)
शासन प्रभाव	=)

[डाकव्यय अतिरिक्त]

मिलने का पता—
श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।